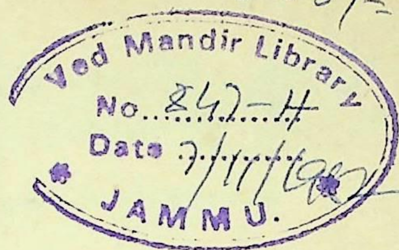
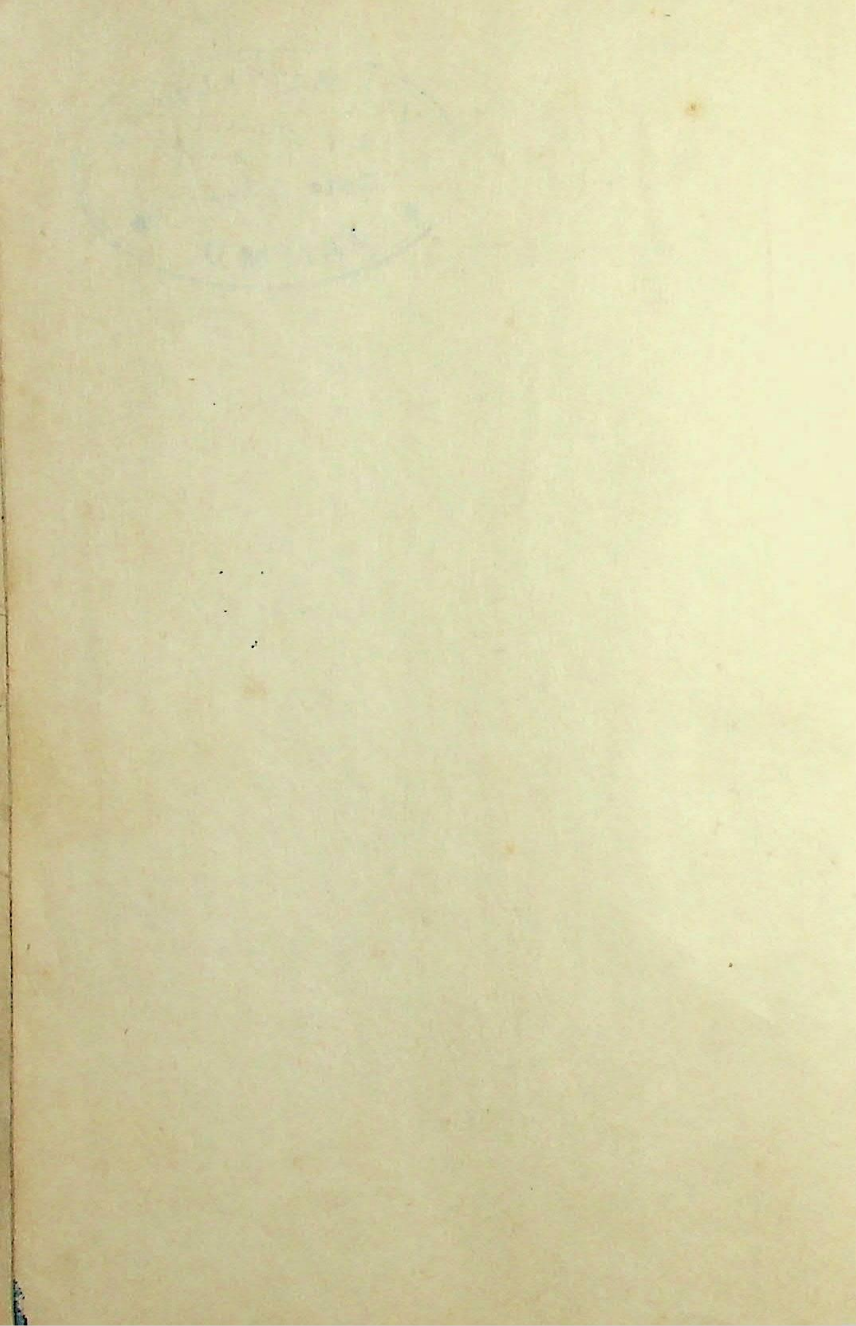
मद्भगवद्गीता व्यवहार दर्शन

[रामसभा प्रकाशन ग्रन्थमाला का द्वितीय पुष्प]



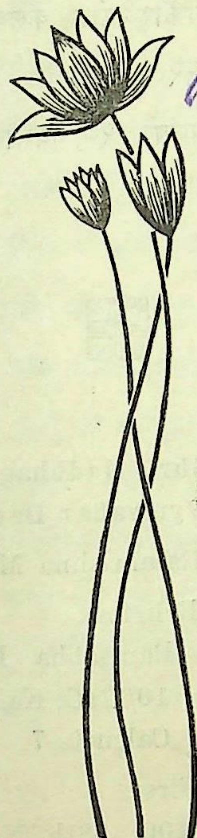
रामकृष्ण मोहता





श्रीमद्भगवद्गीता व्यवहार दर्शन

[रामसभा प्रकाशन ग्रन्थमाला का द्वितीय पुष्प]



रामकृष्ण मोहता

नाम—श्रीमद्भगवद्गीता व्यवहार दर्शन

लेखक—रामकृष्ण मोहता

विषय—धार्मिक

प्रकाशक - रामसभा प्रकाशन
१०/१/१सी, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता ७

सस्करण—प्रथम, प्रतियाँ—२२००

तिथि—सं० २०२८, गीता जयन्ती २८, नवम्बर १९७१

मूल्य—३ रुपये



Title—Shri Madbhagvadgeeta
Vyawahar Darshan

Author—Ramkrishna Mohata

Subject—Religion

Publisher—Ramsabha Prakasan
10/1/1C, Kalakar Street
Calcutta-7

Edition—First

Copies– 2200; 28th. Nov. '71
Geeeta Jayanti, Sambvat 2028

Price—Rs. 3 only

समर्पण

जिनकी अशेष कृपा, असीम अनुकम्पा, स्नेह और आशीर्वचन के फलस्वरूप इस कृति का निर्माण हुआ उन्हीं पूज्य माता और पिता सदृश स्वर्गीय श्रीमती राधा देवी एवं श्री गोपीकृष्ण जी मोहता, स्वर्गीय पूज्य चाचाजी पन्नलाल जी मोहता एवं पूज्य चाचीजी श्रीमती कस्तूर बाई, पूज्य भ्राता स्वर्गीय श्री शिवरतन जी मोहता एवं पूज्य भाभीजी श्रीमती रमा देवी मोहता, पूज्य धर्म पिता स्वर्गीय श्री धोकल दासजी भूतड़ा एवं धर्म भाई श्री माणिकलालजी भूतड़ा, सत्संग के सहयोगी सुहृदय मित्र स्वर्गीय श्री गिरधरलाल जी चांडक, श्री सूरजमलजी सोनी, श्री गणेशदास जी मीमानी, श्री ब्रजबल्लभ दासजी मूधड़ा एवं श्री जगदीश प्रसादजी अग्रवाल इन दिवंगत आत्माओं को शत-शत वन्दन करता हूं एवं उनकी पावनस्मृति में यह पत्र-पुष्प श्रद्धा, भक्ति और स्नेह पूर्वक समर्पित करता हूँ।

—:०:—

आशीर्वाद

ॐ तत्सत्परमात्मने नमः

भक्तप्रवर श्रीमान् रामकृष्णजी मोहता के द्वारा सङ्कलित और सम्पादित यह "श्रीमद्भगवद्गीता व्यवहार दर्शन" आपाततः देखने से सर्वसामान्य जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी प्रतीत होता है । अतएव भूत भावन भगवान श्री विश्वनाथ जी इनकी उन्नति में सहायक हों, यह हमारी शुभ कामना है ।

कृष्णानन्द
महामंडलेश्वर-संन्यास आश्रम अहमदाबाद
स्थायी ट्रस्टी – सत्संग भवन, कलकत्ता
गुरुवार, १४-१०-७१

प्रस्तावना

श्रीमद्भगवद्गीता के अध्ययन करने पर ऐसा देखा कि इस ग्रन्थ पर महान् सन्तों ने अपने-अपने विचार प्रगट किये हैं तथा उसकी टीकायें हैं और भाष्य भी हैं। अतः इच्छा हुई कि इसका सरल व्यवहार दर्शन, जैसा अपने अनुभव से प्राप्त हुआ है, लिख कर जनता जनार्दन की सेवा में भेंट किया जाय और श्रीकृष्ण परमात्मा के चरणों में नमस्कार कर लिखना प्रारभ किया। इस ग्रन्थ में विषाद में डूबे हुए व्यक्ति को विषाद मुक्त करके पुनः कर्तव्य कर्म करने के लिये कैसे प्रेरित किया जाय इसका मार्ग निर्देशन किया गया है। अर्जुन अपने कुटुम्ब, परिवार, गुरुजनों में ममत्व के कारण ठीक युद्ध प्रारंभ होने के समय किनसे युद्ध करना है देखना चाहता है एवं उनको देख कर मोहित हो जाता है और धर्म का आश्रय लेकर यह कहता है कि गुरुजनों को मारने से पाप होगा, मुझे नरक में जाना पड़ेगा, इसलिये मैं इस तुच्छ राज्य के लिये युद्ध नहीं करूँगा, भिक्षा के अन्न से निर्वाह कर लूँगा। इस विषम परिस्थिति में कुरुक्षेत्र के मैदान में श्रीकृष्ण परमात्मा, जिन्होंने अर्जुन के रथ की रास पकड़ी है, धर्म के सच्चे स्वरूप का वर्णन किया है।

इस ग्रन्थ में कुल ७०० श्लोक हैं जिनमें धृतराष्ट्र के द्वारा १, संजय के द्वारा ४३, अर्जुन के द्वारा ८२ और श्रीकृष्ण परमात्मा के द्वारा ५७४ श्लोक कहे गये हैं। अर्जुन ने १७ प्रश्न ६३ श्लोकों और भगवान के विराट स्वरूप का बर्णन १७ श्लोकों में, स्थिति का वर्णन १ श्लोक में, और १ श्लोक

से भगवान के चरणों में समर्पण किया है। भगवान ने अर्जुन के प्रश्न का उत्तर ५९७ श्लोकों में दिया जो कि प्रश्न करने वाले ६३ श्लोकों का ९ गुणा है। ४ श्लोकों में स्वरूप दर्शन का एवं ३ श्लोकों में स्थिति का वर्णन किया है। अर्जुन एकादश अध्याय में १५ से ३१ श्लोकों में विराट स्वरूप का आखों देखा हाल का वर्णन करते हैं एवं ११ वें अध्याय के ५१ वें श्लोक में अपनी स्थिति और १८ अध्याय के ७३ वें श्लोक में समर्पण कर देते हैं और भिन्न-भिन्न अध्याय के ६३ श्लोकों में १७ प्रश्न करते हैं—प्रथम अध्याय में २८ से ४६ श्लोक तक द्वितीय अध्याय में ४ से ८ तक एवं ५४ वां श्लोक, तृतीय अध्याय में १ से २ एवं ३६ वां श्लोक, चतुर्थ अध्याय में ४ एवं पंचम अध्याय में १, षष्ठ अध्याय में ३३, ३४ और ३७ से ३९, अष्टम अध्याय में १ से २, दशम अध्याय में १२ से १९, एकादश अध्याय में १ से ४ और ३६ से ४६, श्लोक द्वादश अध्याय में १, चतुर्दश अध्याय में २१, सप्तदश अध्याय में १, अष्टादश अध्याय में १ श्लोक।

भगवान इनका उत्तर द्वितीय अध्याय २ से ३, ११ से ५३ और ५५ से ७२, तृतीय अध्याय ३ से ३५ और ३७ से चतुर्थ अध्याय के ३ तक और ५ से ४२, पंचम अध्याय २ से षष्ठ अध्याय के ३२ तक, ३५, ३६ और ४० से सप्तम अध्याय के ३० तक, अष्टम अध्याय के ३ से दशम अध्याय के ११ तक एवं १९ से ४२ तक, एकादश अध्याय ४७ से ४९ और ५२ से ५५ तक, द्वादश अध्याय २ से चतुर्दश अध्याय २० तक एवं २२ से षोडष अध्याय २४ तक,

सप्तदश अध्याय २ से २८ तक, अष्टादश अध्याय २ से ७२ तक के श्लोकों के माध्यम से कहा है।

इस प्रकार विषाद युक्त अर्जुन को भगवान ने सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानकर्मसंन्यासयोग, कर्मसंन्यासयोग, आत्मसंयमयोग, ज्ञान-विज्ञानयोग, अक्षरब्रह्मयोग, राजविद्याराज्यगुह्ययोग, विभूति-योग, विराटरूपदर्शनयोग, भक्तियोग, क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग, गुणविभागयोग, दैवीअसुरसंपदायोग, श्रद्धाविभागयोग, मोक्षयोग इन १७ प्रकार के योगों द्वारा समझाया ।

"जीवनोद्धार प्रकाश" पुस्तक लिखने के बाद "श्रीमद्-भागवद्गीता व्यवहार दर्शन" नाम के इस पुस्तक को अपनी बाणी पवित्र करने के लिये और सरलता से गीता ग्रन्थ को उपयोगिता को अच्छी तरह समझने के लिये संक्षिप्त, परन्तु आवश्यक सामग्रियों का अभाव नहीं हो, इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए पुस्तक का निर्माण कार्य प्रारंभ हुआ ।

नित्य मूल गीता का क्रमबद्ध पाठ किया जा सके इसलिये प्रत्येक अध्याय के श्लोक एक साथ दे दिये हैं जिन्हें पाठ कर श्रद्धालु भक्त पुण्य प्राप्त कर सकते हैं।

उसके उपरान्त भाष्य, क्रमबद्ध कथा-कहानी के रूप में लिखा गया है जिसे पढ़कर सरलता से स्वतः विचार शुद्ध हो जाते हैं।

प्रत्येक अध्याय का संक्षिप्त सार 'व्यवहार दर्शन' शीर्षक में लिखा गया है जिसे पढ़कर उस अध्याय में सन्निहित योग के रहस्य को अच्छी तरह समझा जा सकता है ।

'गीता-प्रश्न-उत्तर' : इस शीर्षक के अन्तर्गत गीता में अर्जुन द्वारा किये गये प्रश्न एवं उनका संक्षिप्त उत्तर इस प्रकार लिखा गया है कि कोई भी जिज्ञासु एवं विद्यार्थी इसे पढ़कर गीता के भाव को अच्छी तरह समझ सकता है ।

अष्टादश श्लोकी गीता : इस शीर्षक के अन्तर्गत गीता पढ़ने वाले किस प्रकार मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं एवं कैसे भगवान का प्रिय पात्र बन सकते हैं इसके लिए प्रत्येक अध्याय से १-१ विशेष श्लोक को उसके शब्दार्थ और भावार्थ सहित संग्रहीत किया गया है। इस अष्टादश श्लोकी गीता का अर्थ समझकर पाठ करने से भगवान के चरणारविन्दों में पाठक का स्वतः प्रेम हो जाता है और वह प्रभु का कृपा पात्र बन जाता है।

जीवनोपयोगी सूक्तियाँ : ये पृष्ठ संख्या २८१ और ३०२ के अन्त में लिखी गई है जिन्हें पढ़कर बारम्बार स्मरण करने से आदतें सुधरने लगती हैं, और इन सुधरी हुई आदतों से जीवन उन्नत हो जाताहै ।

इस प्रकार का प्रयाश, इस पुस्तक के माध्यम से साधारण जनता के कल्याण के उदेश्य से किया गया है । इसलिये आत्म उन्नति में सहायक इस ग्रन्थ को प्रत्येक भाई-बहन को अपने पास में रखना चाहिये ।

अन्त में मैं अपने प्रिय मित्र श्री राजकुमार जी मल्लिक को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के प्रूफ संशोधन में सहयोग दिया है।

विनीत

रामकृष्ण मोहता

भूमिका

श्रीमद्भगवद्गीता को समस्त वेद-शास्त्र और उपनिषदों का तत्त्व माना गया है और इस दृष्टि से लोक-जीवन के आध्यात्मिक, वैचारिक और कर्ममय जीवन को उन्नत बनाने में इस ग्रन्थ का बहुत बड़ा अवदान है। १८ अध्यायों में विभाजित ७०० श्लोकों के इस ग्रन्थ ने सहस्राब्दियों तक मानव जाति को कर्म ज्ञान और भक्ति की प्रेरणा दी है। महाभारत युद्ध के समय कुरुक्षेत्र के मैदान में मोह ग्रस्त और कर्त्तव्य विमुख अर्जुन को सम्बोधित करते हुए आनन्दकन्द भगवान श्री कृष्ण चन्द्र ने जो उपदेश दिया वही श्रीमद्भगवद्गीता में संकलित है। इसलिए भगवद्वाणी के रूप में इस ग्रन्थ की प्रतिष्ठा की जाती है। वेदों के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वे अपौरुषेय हैं किन्तु श्रीमद्-भगवद्गीता को वेद-शास्त्रों और उपनिषदों का सार माना जाता है। भगवान के वचनों की व्याख्या करना सरल नहीं है किन्तु, जिस तरह से महावीर अर्जुन के मन में शंकायें उत्पन्न हुईं उस तरह की शंकायें यदि साधारण व्यक्तियों के मन में उत्पन्न होती हैं और उनके निवारण के लिए श्रीमद्भवद्गीता का सहारा लिया जाता है तो इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता क्योंकि नर और नारायण के रूप में ही अर्जुन की शंकाओं का समाधान स्वयं भगवान श्री कृष्ण ने किया था।

मानव-जीवन में ऐसे क्षण आते हैं जब कि मनुष्य के लिये अपने कर्तव्य निर्धारण करना कठिन हो जाता है। फिर धर्म की गति बड़ी गहन है और धर्म के मर्म को समझना सबके लिए सरल भी नहीं है। अतः, धर्म और कर्त्तव्य के सम्बन्ध में भ्रमग्रस्त व्यक्ति श्रीमद्भगवद्गीता का सहारा लेकर अपना त्राण चाहता है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

मानव-जीवन में दुष्प्रवृत्तियों से सत्प्रवृत्तियों का निरन्तर संघर्ष चलता रहता है और जब दुष्प्रवृत्तियों पर सत्प्रवृत्तियों की विजय हो जाता है तो उसे ही असत्य पर सत्य की विजय की संज्ञा दी जाती है। महाभारत के युद्ध के समय अपने सम्बन्धियों, गुरुजनों और श्रेष्ठ पुरुषों को युद्ध के लिये प्रस्तुत देख कर अर्जुन को मोह होता है जो स्वाभाविक है किन्तु इस मोह के कारण वह अपने कर्त्तव्य का निर्धारण करने में असमर्थ हो जाता है और युद्ध नहीं करूँगा; ऐसी घोषणा कर देता है, यह 'पलायनवाद' जैसी प्रवृत्ति है। श्री कृष्ण उसकी शंकाओं का समाधान करते हैं, और उसे धर्म का रहस्य बताते हैं और कर्त्तव्य पालन की प्रेरणा देते हैं तथा इसी सन्दर्भ में वे अपनी विभूतियों का विस्तार से वर्णन करते हैं। अर्जुन को अपने कर्त्तव्य का ज्ञान हो जाता है और वह युद्ध के लिये प्रस्तुत हो जाता है। इस सन्दर्भ में आत्मा के अमरत्व और शुभाशुभ कर्मों से आत्मा के निर्लिप्त रहने का सन्देश भी है। साथ ही भगवान के प्रति समर्पण की भावना भी है। कर्म, ज्ञान और भक्ति की त्रिवेणी श्रीमद्भगवद्गीता में प्रवाहित हो रही है।

श्रीमद्भगवद्गीता की टीकायें और व्याख्यायें अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखी जा चुकी हैं। आचार्यों के भाष्य भी उपलब्ध हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के उपदेशों ने न केवल भारतीयों को प्रभावित किया है बल्कि अनेक विदेशी विद्वान भी इससे प्रभावित हुए हैं। आधुनिक युग में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गाँधी और योगी अरविन्द ने श्रीमद्भगवद्गीता पर अपने-अपने ढंग से व्याख्यायें लिखी हैं। लोकमान्य तिलक के 'गीता-रहस्य', गाँधी के अनासक्ति योग और संत वेलकर की पुरुषार्थ बोधिनी का अलग महत्त्व है। इस तरह श्रीमद्भगवद्गीता के सम्बन्ध में और भी बहुत से ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं। ऐसी स्थिति में श्री रामकृष्ण मोहता ने "श्रीमद्भगवद्गीता व्यवहार दर्शन" नामक ग्रन्थ लिखकर इस दिशा में जो एक नया प्रयास किया है उसे 'साहसपूर्ण' ही कहा जायेगा क्योंकि ऐसे गम्भीर विषय पर कुछ लिखना बड़ा ही कठिन कार्य प्रतीत होता है। 'श्रीमद्भगवद्गीता व्यवहार दर्शन' नामक ग्रन्थ को देखने से पता चलता है कि लेखक ने इस ग्रन्थ के प्रणयन में काफी परिश्रम किया है और उन्हें सफलता मिली है। व्यावहारिक दृष्टि से श्रीमद्भगवद्गीता का क्या उपयोग है तथा साधारण जीवन में उसे कैसे उतारा जाता है; इसका विवेचन ठीक ढंग से किया गया है। प्रत्येक श्लोक के साथ उसका अर्थ नहीं है बल्कि प्रत्येक अध्याय के बाद श्लोकों के अर्थ दिये गये गये हैं। अर्जुन द्वारा पूछे गये प्रश्नों के श्री कृष्ण ने जो उत्तर दिये हैं उन्हें सरल हिन्दी भाषा में देकर लेखक ने एक नयी दिशा का

बोध कराया है। चूँकि, सब लोग संस्कृत के अध्ययन और अनुशीलन की क्षमता नहीं रखते इसलिए मूल संस्कृत श्लोकों के साथ साथ हिन्दी अर्थ देकर लेखक ने संस्कृत न जानने वालों के लिए भी भगवद् वाणी से लाभ उठाने का सुअवसर प्रदान किया है। अगर कोई संस्कृत और हिन्दी दोनों ही भाषाओं का ज्ञान रखता है तो वह मूल संस्कृत श्लोकों को पढ़कर हिन्दी अर्थ से भी लाभ उठा सकता है। अर्जुन द्वारा पूछे गये १७ प्रश्नों के बाद अष्टादश श्लोकी गीता का अर्थ और भावार्थ सुन्दर है। भाषा सरल है और शैली भी आकर्षक है। हमारा अनुमान है कि इस ग्रन्थ से सर्वसाधारण को लाभ होगा और भगवान के वचनामृत का वे लोग भी पान कर सकेंगे जिनका देव भाषा संस्कृत में अधिक प्रवेश नहीं है। इस दृष्टि से यह प्रकाशन स्वागत के योग्य है।

अनन्त मिश्र
भूतपूर्व सम्पादक, दैनिक सन्मार्ग
कलकत्ता

१२१ चित्तरंजन एवेन्यू,
कलकत्ता-७

॥ श्री राम ॥

लेखक का परिचय

वसुदेव सुतं देवं कंसचाणमर्दनम् ।
देवकी परमानन्दं कृष्णं वंदे जगद्गुरुम् ॥

चिरंजीवी रामकृष्ण मोहता के पिताजी स्वर्गीय प्रेम सुखजी मोहता एवं चाचाजी पन्नालालजी मोहता से एक जाति के होने के कारण मेरा बहुत पुराना सम्बन्ध है, फिर घनिष्ठ जानकारी के कारण सं १९७५ में होलितोत्सव, (जो भक्त प्रहलाद की रक्षा का दिवस है), की खुशी में बिरादरी के सभी भाई मिलकर उद्यान गोष्ठी का त्रिदिवसीय आयोजन वृहत रूप में किया करते थे । यह "मोहता भाइपा की शैल" के नाम से जाना जाता था । लेखक के पिताजी का जिला खुलना, जो अब पूर्वी पाकिस्तान अथवा बंगलादेश अन्तर्गत पड़ता है, उनका व्यापारिक स्थान था । बहुत बड़े व्यापारी और धार्मिक प्रवृत्ति में श्रेष्ठ आचरण वाले' होने के कारण उनके वासस्थान को वहाँ के लोग "बड़ो घर" नाम से पुकारते थे । नजदीक से यह देखने का मौका सं० १९८४ में मिला जब मेरे बड़े भाईजी की शादी की बारात खुलना में "मल' परिवार में गई थी। वहां आप लोगों ने बहुत बड़े प्रीति-भोज का आयोजन प्रेम कानन बगीचे में किया था एवं आपके पिताजी द्वारा जिन जन-कल्याण के लिये की गई कुछ प्रवृत्तियों को देखने का मौका मिला

वे हैं—विशाल श्री सत्यनारायण मन्दिर, श्री सत्यनारायण विद्यालय और प्रेम कानन उद्यान जिसे श्री सत्यनारायण भगवान के मन्दिर को समर्पण किया गया था। उस समय पहली बार लेखक को देखने और समझने का अवसर प्राप्त हुआ था। इनकी उम्र उस समय केवल ९ साल की थी।

लेखक के बड़े भाई स्वर्गीय शिवरतन मोहता के साथ माहेश्वरी सभा, कलकत्ता की विभिन्न शाखाओं में मैंने साथ-साथ समाज-सेवा के कार्य किये। चिरंजीवी रामकृष्ण मोहता ने भी माहेश्वरी सभा की विभिन्न शाखाओं में उच्च पधाधिकारी रह कर समाज सेवा का कार्य किया, माहेश्वरी व्यायामालय में विशेष रूप से व्यायाम में रुचि होने के कारण सेवा की ओर स्वस्थ और शरीर प्राप्त किया एवं स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन होने के कारण आपका झुकाव अध्यात्म विचार धारा की ओर बढ़ा, और आपने रामायण, गीता, भागवद्पुराण, उपदिनषद्, पातजंल योग आदि जैसे सद् ग्रन्थों का अध्ययन प्रारम्भ किया। निरन्तर अध्ययन करने से आप इन महान् ग्रन्थों के गूढ़ अर्थ को समझने लगे और "जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ" उक्ति को चरितार्थ कर सत्संगत और प्रवचन करने लगे। आप प्रति वर्ष भारत के विभिन्न तीर्थों के दर्शनार्थ व्यापारिक व्यस्त कार्य क्रम को छोड़कर प्रतिवर्ष दो महीने के लिये भ्रमण और तीर्थाटन पर जाने लगे। इससे अध्यात्मिक चिन्तन का और भी विकास हुआ। मुझे पूर्व स्मृति का

स्मरण आ रहा है कि सं० १९९२ में पूज्य माता जी के साथ ब्रजयात्रा को एवं श्री नाथजी के दर्शन करने गया । वहां पुष्टि मार्गी मन्दिरों के दर्शन किये, श्री कृष्ण भगवान का गुण गायन सुना और प्रवृत्ति में भगवान के गुण-कीर्तन करने की इच्छा जाग्रत हुई जो क्रम आज तक चल रहा है। सम गुण होने के कारण लेखक की ओर मेरा अधिक आकर्षण हुआ और परम प्रसन्नता है कि आज चिरंजीवी रामकृष्ण का परिचय लिख रहा हूं । सं० २००५ में जब आप परिवार सहित कुंभ स्नान को प्रयागजी गये उस समय गंगामंन्दिर के पास बांध के नीचे आप परिवार सहित थे । नाग बाबाओं के जुलूस के कारण रास्ता तो बंद हो गया था परन्तु जनता का आना चालू रहा, इसलिये भीड़ में दबकर बहुत व्यक्तियों की मृत्यु हो गई। इस विपन्न स्थिति में परिवार सहित घिर जाने के कारण मृत्यु और संरक्षण में भगवत् कृपा का अति निकट से दर्शन किया और आपकी प्रवृत्ति प्रभु के गुण गायन में और भी दृढ़ हो गयी । आप परमार्थिक कार्यों में अधिक भाग लेने लगे। आपकी कुछ परमार्थिक प्रवृतियों का जिन्हें देखकर मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ, यहां उल्लेख कर रहा हूँ। स्वाध्याय साप्ताहिक सत्संग सभा, महामण्डलेश्वर श्री बालकृष्ण यतिजी, महाराज हथियाराम मठ, वाराणसी द्वारा स्थापित शनिवार और रविवार दोनों विभागों के सं २०२३ से २०२८ गुरु पूर्णिमा तक अध्यक्ष पद से शनिवारीय संगत गीता के माध्यम से और रविवारीय संगत रामचरित्र मानस के माध्यम से व्यावहारिक व्याख्या सहित प्रवचन करते रहे। "सनातन धर्म

प्रचार सभा" कश्मिर राज्य पं० श्री दुर्गाप्रसादजी विद्यावाचस्पति द्वारा स्थापित सं० २०२६ प्रथम आषाढ़ से प्रचार कार्य कर रहे हैं जिसके आप मन्त्री हैं एवं प्रत्येक शनिवार को आफिस और गद्दियों में मध्यान्ह ४ से ६ बजे तक यह संस्था कीर्तन और आपके प्रवचन के द्वारा प्रचार कर रही है। रामदरबार सत्संग प्रसन्न कुमार घाट पर सप्ताह में तीन दिन प्रवचत करते थे अब सप्ताह में सिर्फ एक दिन ७ से ८ तक समय देते हैं क्योंकि स्थानीय सत्संग भवन में मननगष्ठी का आप संचालन करते हैं एवं प्रवचन के माध्यम से सुन्दर स्वाध्याय मनन करवाते हैं, जो प्रातः ६। से १० तक चलता है । आपने धर्म प्रचार के लिये श्रीमानस गीता प्रचार सभा नाम से एक संस्था स्थापित की जिसके आप संस्थापक एवं अध्यक्ष हैं। इसका प्रथम सत्संग १८-४-७१, रविवार को हुआ और अब प्रत्येक रविवार को सद्गृहस्थों के यहां एवं सार्वजनिक बड़े स्थानों पर मध्यान्ह २।। से ६ तक होता है। इनमें बहुत बड़ी संख्या में नर-नारी लाभ उठाते हैं । इस सत्संग में गीता के २ श्लोक एवं रामचरित्र सानस के एक दोहे का पाठ कर उसका गृहस्थोपयोगी व्याख्या आपके द्वारा की जाती है। इस संस्था के २ उत्साही सहयोगी श्रीगोपाल जी खेमका एवं श्री वासुदेव जी गोयनका सचिव रूप में कार्य संभाल रहे हैं। श्री कृष्ण जन्माअष्टमी सं० २०२८ से आपने प्रभातफेरी, भगवत नाम-संकीर्तन द्वारा जन मानस में शान्ति लाने के लिये, परस्पर प्रेम वृद्धि के लिये, एवं बढ़ती हुई हिंसा प्रवृत्ति बन्द करने के लिये नगर संकीर्तन नित्य प्रातः ५।। से ६।। तक करते

हैं। प्रत्येक, रविवार को इस प्रभात फेरी का श्री लक्ष्मीनारायण जी के मन्दिर तुलापट्टी से सनातन धर्म प्रचार सभा द्वारा विशेष आयोजन किया जाता है। आपने जन कल्याण के लिये लिखना प्रारम्भ किया जिसका प्रथम पुष्प "जीवनोद्धार प्रकाश" नाम से सं० २०२७ गुरुपूर्णिमा को प्रकाशित हुआ एवं दूसरा यह पुष्प 'श्रीमद्भगवद्गीता व्यवहार दर्शन' नाम से सं० २०२८ को गीता जयन्ती पर प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकार अध्यात्मिक प्रचार और प्रसार का दिनोंदिन विस्तार कर रहे हैं। मैं अपने इष्टदेव भगवान् मदनमोहनजी से प्रार्थना करता हूं कि वे आप पर पूर्ण कृपा दृष्टि बनाये रखें जिससे आप दीर्घ काल तक अपना और मानव कल्याण के लिये अध्यात्मिक सेवा करते रहें।

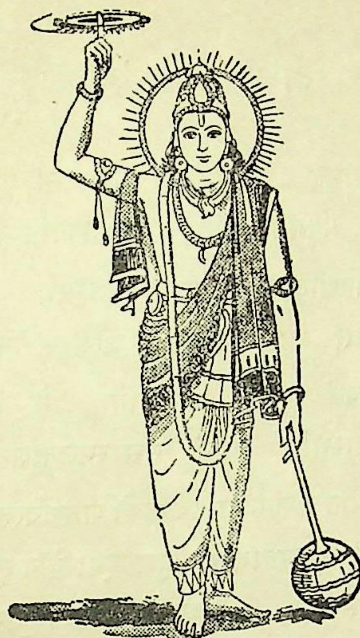
गोकलदास मोहता

दिनांक ११-११-७१ { भूतपूर्व कौंसिलर, कलकत्ता कारपोरेशन
,, उपाध्यक्ष, भारत चैम्बर ऑफ कामर्स

विषय-सूची

—:०:—

* ॐ श्री परमात्मने नमः *



चक्रधारी श्री कृष्ण

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः
स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदै-
र्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा
पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा
देवाय तस्मै नमः ॥

—:०:—

अथ गीतामाहात्म्यम्

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥ १ ॥

गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च ।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च ॥ २ ॥

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
सकृद् गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥ ३ ॥

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ ४ ॥

भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम् ।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ५ ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्तादुग्धंगीतामृतंमहत् ॥ ६ ॥

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीता-
मेको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥ ७ ॥

—:०:—

ईश्वर-वन्दना

नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्त्रमूर्तये, सहस्त्रपादा क्षिशिरोरुबाहवे ।
सहस्त्रनाम्ने पुरुषायशश्वते, सहस्त्र कोटी युग धारिणे नमः ॥

त्रिविध परिच्छेद से रहित असंख्य शरीरवाले असंख्य पांव असंख्य आँख अनन्त शिर उरु तथा वाहुवाले (विराट् स्वरूप) अनन्त युगों को धारण करनेवाले (महाकाल) को नमस्कार है। सहस्त्रनाम धारी सनातन पुरुष के लिये नमस्कार होवे ।

गुरुजन-वन्दना

अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चरा चरम ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥
गुरुर्ब्रह्मा गुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

जिनके द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जड़ और चेतन व्याप्त है तथा जिन्होंने उस ब्रह्म पद को दिखाया उन श्री गुरुदेव को नमस्कार है।

गुरुतत्त्व ही ब्रह्मारूप गुरुदेव ही विष्णु हैं तथा गुरुदेव ही महादेव हैं तथा गुरुदेव ही साक्षात् त्रिगुणातीत परब्रह्म हैं ऐसे उन गुरुदेव को नमस्कार है।

परमानन्द

सुख-दुःखों से रहित भागवत जीवन ही है 'परमानन्द' ।
प्रभु की शुभ सन्निधि है जिसमें नित्य बनी रहती स्वच्छन्द ॥
रहता नहीं तनिक भी प्राकृत जग का कहीं पृथक अस्तित्व ।
रह जाता बस "रामकृष्ण" सच्चिदानन्द मय भगवद्तत्त्व ॥

—:०:—

श्रीमद्भगवद्गीता व्यवहार दर्शन

अवतरण

कौरवों और पाण्डवों में अधिकार निश्चय करने के लिये धर्मयुद्ध कुरुक्षेत्र में होना निश्चित है एवं पाण्डव और कौरव सब अपने-अपने सम्बन्धियों के पास युद्ध का निमन्त्रण देने जाते हैं। द्वारिका में श्रीकृष्ण के पास दुर्योधन (कौरव) और अर्जुन (पाण्डव) दोनों जाते हैं। पहले दुर्योधन पहुँचते हैं और मस्तक की तरफ रखे आसन पर बैठ जाते हैं। थोड़ी देर बाद अर्जुन भी पहुंचते हैं और पलंग पर पैरों के पास बैठ जाते हैं। निद्रा खुलने पर भगवान पहले अर्जुन को देखते हैं एवं कुशल-क्षेम पूछते हैं। इसी बीच दुर्योधन कहते हैं कि मैं पहले आया हूं, इसलिये पहले मुझे मदद मिलनी चाहिये। श्रीकृष्ण परमात्मा ने अपनी सम्पत्ति के दो भाग किये—एक भाग में शस्त्रसज्जित सारी सेना तथा दूसरे भाग में युद्ध में शस्त्र नहीं ग्रहण करने की शर्त के साथ स्वयं। तदुपरान्त उन्होंने कहा कि मैंने पहले अर्जुन को देखा है, इसलिये वह जो पसन्द करे ले लेवे। अर्जुन ने तुरन्त विचारपूर्वक कहा कि मुझे तो आप (श्रीकृष्ण) चाहिये। दुर्योधन ने मन में सोचा अच्छा हुआ निःशस्त्र कृष्ण को लेकर क्या करना है। अर्जुन तो मूर्ख है, ऐसा सुन्दर मौका मिलने पर भी मांगना नहीं आया और बड़ा प्रसन्न होकर सेना की जो मदद उसे मिली स्वीकार कर चला गया।

श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन से पूछा, तम मुझ निःशस्त्र को लेकर क्या करोगे? अर्जुन ने कहा—प्रभु, और कुछ नहीं चाहिये, आप हमारे साथ रहेंगे इसमें मुझे बहुत बड़ी प्रसन्नता है। आप युद्ध काल में मेरे रथ की बागडोर संभालें। श्रीकृष्ण ने बड़े प्रेम से इसे स्वीकार कर लिया। युद्ध प्रारम्भ के पूर्व दोनों सेनाओं के बीच में रथ ले जाने के लिये अर्जुन ने आग्रह किया। श्रीकृष्ण परमात्मा ने दोनों सेनाओं के बीच भीष्म, द्रोण के सामने रथ खड़ा कर दिया और कहा कौरव दल को देख। इसी दृश्य को संजय धृतराष्ट्र क पूछने पर कह रहा है, यहीं से गीता का प्रारम्भ होता है—

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ श्रीमद्भगवद्गीता

अथ प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पान्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढा द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

युधामन्युश्चविक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयोश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्ध विशारदाः ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथ्वीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तु धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥
उत्पन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो
नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

प्रथम अध्याय : भाष्य

संजयसे धृतराष्ट्रने पूछा कि धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में मेरे और पाण्डव के पुत्रों ने क्या किया। संजय ने सारी स्थिति का वर्णन इस प्रकार प्रारम्भ किया। उस समय राजा दुर्योधन ने व्यूह रचना-युक्त पाण्डवों की सेना को देखकर और द्रोणाचार्य के पास जाकर यह वचन कहा। हे आचार्य, आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद पुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डु पुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को देखिये। इस सेना में बड़े बड़े धनुषवाले युद्ध में भीम औरअर्जुन के समान बहुत से शूरवीर हैं जैसे सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद।

[भाष्य : १-४]

और धृष्टकेतु चेकितान तथा बलवान काशीराज पुरजित कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैव्य। पराक्रमी युधामन्यु तथा वलवान उत्तमौजा सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पाँचों पुत्र ये सब ही महारथी हैं। हे ब्राह्मण श्रेष्ठ, हमारे पक्ष में भी जो जो प्रधान हैं उनको आप समझ लीजिये। आपके जानने के लिये मेरी सेना के जो जो सेनापति हैं उनको कहता हूँ। एक तो स्वयम् आप और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्राम विजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा तथा और भी बहुत से शूरवीर अनेक प्रकार के शस्त्र-अस्त्रों से युक्त मेरे लिये जीवन की आशा को त्यागने वाले सबके सब युद्ध में चतुर हैं और भीष्म पितामह द्वारा रक्षित हमारी यह सेना सब प्रकार से अजेय है और भीम द्वारा रक्षित इनलोगों की यह सेना जीतने में सुगम है। इसलिये सब मोर्चे पर अपनी अपनी जगह स्थित रहते हुये आपलोग सबके सब ही भीष्म पितामह की सब ओर से रक्षा करें। इस प्रकार द्रोणाचार्य से कहते हुए दुर्योधन के वचनों को सुनकर कौरवों में वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्म ने उस दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्चस्वर से सिंह की नाद के समान गर्ज कर शङ्ख बजाया। उसके उपरान्त शङ्ख और नगारे तथा ढोल, मृदङ्ग और नृसिंहादि बाजे एक साथ ही बजे। उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ।

इसके अनन्तर सफेद घोड़ों से युक्त उत्तम रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुन ने भी अलौकिक शंख बजाये।

[भाष्य ५-१४]

उनमें श्रीकृष्ण महाराज ने पाञ्चजन्य नामक शंख, अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख बजाया। भयानक कर्मवाले भीम ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्त-विजय नामक और नकुल तथा सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नाम बाले शंख बजाये। श्रेष्ठ धनुष वाले काशीराज और महारथी शिखण्डी और धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकी तथा राजा द्रुपद और द्रौपदी के पाँचों पुत्र और बड़ी भुजावाला सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु इन सबने, हे राजन्, अलग अलग शंख बजाये। और उस भयानक शब्द ने आकाश और पृथ्वी को भी शब्दायमान करते हुये धृतराष्ट्र पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिये। हे राजन्, उसके उपरान्त कपिध्वज अर्जुन ने खड़े हुए धृतराष्ट्र पुत्रों को देखकर उस शस्त्र चलने की तैयारी के समय धनुष उठाकर हृषिकेश श्रीकृष्ण महाराज से यह वचन कहा—हे अच्युत, मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिये। जब तक मैं इन स्थित हुए युद्ध की कामनावालों को अच्छी प्रकार देख लूं कि इस युद्ध रूप व्यापार में मेरे लिए किन किन के साथ युद्ध करना योग्य है और दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में कल्याण चाहने वाले जो जो ये राजा लोग इस सेना में आये हैं उन युद्ध करने वालों को मैं देखूंगा।

संजय बोले—हे धृतराष्ट्र, अर्जुन द्वारा इस प्रकार कहे हुए वचन सुन कर महाराज श्रीकृष्णचन्द्र ने दोनों सेनाओं के बीच में भीष्म और द्रोणाचार्य के सामने और सम्पूर्ण राजाओं के सामने उत्तम रथ को खड़ा करके ऐसे कहा कि हे पार्थ, इन इकट्ठे हुए कौरवों को देख।

[भाष्य १५-२५]

उसके उपरान्त पृथा पुत्र अर्जुन ने उन दोनों ही सेनाओं में स्थित हुए पिता के भाइयों को, पितामहों को, आचार्यों को, मामों को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को तथा मित्रों को, ससुरों को और सुहृदों को भी देखा। इस प्रकार खड़े हुए सम्पूर्ण बन्धुओं को देखकर वह अत्यन्त करुणा से युक्त हुआ कुन्तीपुत्र अर्जुन शोक करता हुआ यह बोला—हे कृष्ण, इस युद्ध की इच्छावाले खड़े हुये स्वजन समुदाय को देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जाते हैं और मुख भी सूखा जाता है और मेरे शरीर में कम्पन तथा रोमाञ्च होता है तथा हाथ से गाण्डीव धनुष गिरता है और त्वचा भी बहुत जलती है तथा मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है। इसलिये मैं खड़ा रहने को भी समर्थ नहीं हूं। हे केशव, लक्षणों को भी विपरीत ही देखता हूँ तथा युद्ध में अपने कुल को मारकर कल्याण भी नहीं देखता। हे कृष्ण, मैं विजय को नहीं चाहता और राज्य तथा सुखों को भी नहीं चाहता। हे गोविन्द, हमें राज्य से क्या प्रयोजन है अथवा भोगों से और जीवन से क्या प्रयोजन है। क्योंकि हमें जिनके लिये राज्यभोग और सुखादिक इच्छित हैं वे ही ये सब धन और जीवन की आशा को त्याग कर युद्ध में खड़े हैं।

गुरुजन ताऊ, चाचे, लड़के और वैसे ही दादा, मामा, ससुर, पोते, साले तथा और भी सम्बन्धी लोग हैं। इसलिये हे मधुसूदन, मुझे मारने पर भी अथवा तीनों लोक के राज्य के लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता फिर पृथ्वी के लिये तो कहना ही क्या है।

[भाष्य : २६–३५]

हे जनार्दन, धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी, इन आततायियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा। इससे हे माधव, अपने बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिये हम योग्य नहीं हैं। क्योंकि अपने कुटुम्ब को मारकर हम कैसे सुखी होंगे। यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुलके नाशकृत दोष को और मित्रों के साथ विरोध करने में पाप को नहीं देखते हैं। परन्तु हे जनार्दन, कुल के नाश करने से होते हुए दोष को जाननेवाले हमलोगों को इस पाप से हटने के लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिये। क्योंकि कुल के नाश होने से सनातन कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं। धर्म के नाश होने से सम्पूर्ण कुल को पाप भी बहुत दबा लेता है। तथा हे कृष्ण, पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णय, स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है और वह वर्णसंकर कुलघातियों को और कुल को नरक में ले जाने के लिये ही होता है। लोप हुई पिण्ड और जल की क्रियावाले इनके पितर लोग भी गिर जाते हैं। इन वर्णसंकर कारक दोषों से कुलघातियों के सनातन कुल धर्म और जाति धर्म नष्ट हो जाते हैं।

तथा हे जनार्दन, नष्ट हुए कुल धर्म वाले मनुष्यों का अनन्त काल तक नरक में वास होता है, ऐसा हमने सुना है। अहो! शोक है कि हमलोग बुद्धिमान होकर भी महान् पाप करने को तैयार हुए हैं जो कि राज्य और सुख के लोभ से अपने कुल को मारने के लिए उद्यत हुए हैं।

[भाष्य ३६–४५]

यदि मुझ शस्त्र रहित न सामना करने वाले को शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मारें तो वह मरना भी मेरे लिए अति कल्याण कारक होगा।

संजय बोले कि रण भूमि में शोक से उद्विग्न मन वाला अर्जुन इस प्रकार कहकर बाण सहित धनुष को त्यागकर रथके पिछले भाग में बैठ गया।

[भाष्य : ४६–४७]

इति विषाद योगो नाम प्रथमो अध्याय।

——

प्रथम अध्याय : व्यवहार दर्शन

प्रथम अध्याय में दिखाया गया है कि एक पक्ष (कौरव) शक्ति और संख्या में विश्वास करता है और अर्थ को प्रधानता देता है, उचित या अनुचित जिस किसी भी प्रकार से हो अर्थ संग्रह करना चाहता है। और संग्रहीत अर्थ की रक्षा शक्ति के बल पर करना चाहता है। दूसरा पक्ष (पाण्डव) श्री कृष्ण में पूरी श्रद्धा सहित विश्वास करता है और उनके परामर्श के अनुसार काम करने में कष्ट सहकर भी अपने कुटुम्बियों को बिना किसी प्रकार का कष्ट दिये जीना चाहता है। कौरव अर्थ को प्रधानता देते हैं और कपट उनका साधन है। पाण्डव धर्म को प्रधानता देते हैं और सत्य उनका साधन है। इस संसार में इन दो विचारों के जुए में कौरव कपट से विजय प्राप्त करना चाहते हैं। इस संसार के जुए में पाण्डव अपनी परम प्रिया पत्नी द्रौपदी को, जो पाँचों भाइयों के लिए समान रूप से प्रिय हैं, दाव में लगा देते हैं अर्थात् सत्य की रक्षा के लिए सबके सामने उसे दुर्योधन और दुःशासन द्वारा अपमानित होते देखते हैं। इस असहाय अवस्था में श्री कृष्ण परमात्मा द्रौपदी की लाज की रक्षा करते हैं। अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर जब पाण्डव अपने औचित्य की माँग करते हैं तो कौरव इनकार कर जाते हैं। पांडव सत्य धर्म को पालन करने में महान कष्ट को सह कर भी जब उचित हक प्राप्त नहीं कर सके तो साधारण जीवन व्यतीत करना ठीक समझते हैं, किन्तु

कुटुम्बियों को कष्ट देना नहीं चाहते। अर्जुन मृत्यु लोक के विधान के अनुसार, जहाँ पर दैहिक सम्बन्ध की प्रधानता है, विषाद को प्राप्त होता है। उसके मस्तिष्क में १७ बातें चक्कर काटती हैं जैसा कि प्रथम अध्याय में अर्जुन कहते हैं—(१) लक्षणों को विपरीत देखना, (२) कुलों को मारकर अकल्याण देखना, (३) ऐसी विजय नहीं चाहिये, (४) ऐसा सुख भी नहीं चाहिये, (५) जिसके लिये सुख चाहिये वही लड़ने-मरने के लिये खड़े हैं, (६) गुरुजनों को मारने में महान पाप देखना, (७) इन्हें मारकर हमें अप्रसन्नता होगी, (८) इन आततायियों को मारने में पाप लगेगा, (९) कुटुम्बियों को मारकर कैसे सुख मिलेगा, (१०) मित्रों के साथ विरोध में पाप लगेगा, (११) कुलनाश से सनातन कुल धर्म नष्ट हो जायगा, (१२) पाप बढ़ने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी, (१३) दूषित स्त्रियों से वर्णसंकर उत्पन्न होंगे, (१४) वर्णसंकर नरक में ले जाते हैं, (१५) अनन्त काल तक नरक में वास होता है, (१६) बुद्धिमान होकर भी महान् पाप करने को तैयार हैं और (१७) मरना मेरे लिये कल्याण कारक है। ऐसी परिस्थिति में सत्य धर्म के प्रतिष्ठापन के लिये श्रीकृष्ण परमात्माने रथ में विषादयुक्त बैठे हुये अर्जुन को युद्ध भूमि में दोनों सेनाओं के बीच जो उपदेश दिये यही श्री कृष्ण गीता है। इसमें कर्म करने को प्रधानता देते हुये प्रत्येक योग को श्रीकृष्ण परमात्मा ने समझाया है, और कर्त्तव्य पालन करने की ही प्रेरणा दी है।

॥ इति प्रथम अध्याय : व्यवहार दर्शन ॥

—:०:—

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥
न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदा ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन–
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौजयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥
एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्चर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसोयात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो
नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

—:०:—

* श्री परमात्मने नमः *

द्वितीय अध्याय : भाष्य

संजय ने घृतराष्ट्र से कहा कि इस प्रकार विषादयुक्त आंसुओं से पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले अर्जुन के प्रति मधुसूदन भगवान् ने ने यह वचन कहा। हे अर्जुन, इस विषम स्थल में यह अज्ञान तुम्हें किस हेतु से प्राप्त हुआ, क्योंकि यह न तो श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरण किया गया है, न स्वर्ग को देनेवाला है, न कीर्ति को करने वाला है ।

[भाष्य : १–२]

इसलिये नपुंसकता को मत प्राप्त हो, यह योग्य नहीं है। हे परंतप, हृदय की दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिये खड़ा हो। अर्जुन ने कहा—हे मधुसूदन, मैं रणभूमि में भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य के प्रति किस प्रकार युद्ध करूंगा, क्योंकि हे अरिसूदन, वे दोनों ही पूजनीय हैं। महानुभाव गुरुजनों को न मारकर इस लोक में भिक्षा का अन्न भी भोगना कल्याण कारक समझता हूं, क्योंकि गुरुजनों को मारकर भी इस लोक में रुधिर से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगों को ही तो भोगूंगा। फिर हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये क्या करना श्रेष्ठ है अथवा यह भी नहीं जानते कि हम जीतेंगे, और जिनको मारकर हम जीना नहीं चाहते वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं। इसलिये कृपणता रूप दोष से युक्त स्वभाववाला और धर्म के विषय में मोहितचित्त हुआ मैं आपको पूछता हूं जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याणकारक साधन हो वह मेरे लिये कहिये क्योंकि मैं आपका शिष्य हूं, आपके शरण हुये को शिक्षा दीजिये।

क्योंकि भूमि में निष्कण्टक धन-धान्य-सम्पन्न राज्य को और देवताओं के स्वामीपने को प्राप्त होकर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता हूं जो कि मेरी इन्द्रियों के सुखानेवाले शोक को दूर कर सके। संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—राजन्, निद्रा को जीतने वाला अर्जुन अन्तर्यामी श्री कृष्ण महाराज के प्रति इस प्रकार स्पष्ट कहकर कि हे गोविन्द, मैं युद्ध नहीं करूंगा, चुप हो गया।

[भाष्य : ३–९]

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र, अन्तर्यामी श्री कृष्ण महराज ने दोनों सेनाओं के बीच में उस शोकयुक्त अर्जुन को हँसते हुए से, यह वचन कहा। हे अर्जुन, तूँ न शोक करने योग्यों के लिये शोक करता है और पण्डितों के से वचनों को कहता है, परन्तु पण्डितजन जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी शोक नहीं करते हैं। न तो ऐसा है कि मैं किसी काल में नहीं था अथवा तूं नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है, कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे। जैसे जीवात्मा की इस देह में कुमार, युवा और वृद्ध अवस्था होती है वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति होती है। उस विषय में धीर पुरुष मोहित नहीं होता है। हे कुन्तीपुत्र, सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख को देनेवाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो क्षण भंगुर और अनित्य है, इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन, उनको तू सहन कर। क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ, दुःख-सुख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को इन्द्रियों के विषय ब्याकुल नहीं कर सकते वह मोक्ष प्राप्ति के लिये योग्य होता है।

असत्य का तो अस्तित्व नहीं है और सत् का अभाव नहीं है इस प्रकार इन दोनों को तत्त्वज्ञानी पुरुष भलीप्रकार जानते हैं। नाशरहित तो उसको जानना चाहिये, जिससे कि यह सम्पूर्ण जगत् ब्याप्त है क्योंकि इस अविनाशी का विनाश करने को कोई भी समर्थ नहीं है।

[भाष्य : १०-१७]

इस नाश रहित अप्रमेय नित्यस्वरूप जीवात्मा के यह सब शरीर नाशवान कहे गये हैं। इसलिये भारतवंशी अर्जुन, तू युद्ध कर। जो इस आत्मा को मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है वे दोनों ही नहीं जानते हैं क्योंकि यह आत्मा न मारता है और न मारा जाता है। यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है अथवा न यह आत्मा हो कर के फिर होनेवाला है क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता है। हे पृथापुत्र अर्जुन, जो पुरुष इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है। इस आत्मा को शस्त्रादि नहीं काट सकते हैं और न इसको आग जला सकती है तथा इसको जल गीला नहीं कर सकता है, न वायु सुखा सकता है। यह आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, और अशोष्य है तथा यह आत्मा निः-सन्देह नित्य सर्वव्यापक अचल स्थिर रहनेवाला और सनातन है।

यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों का अविषय और यह आत्मा अचिन्त्य अर्थात् मन का अविषय और यह आत्मा विकार रहित अर्थात् न बदलनेवाला कहा जाता है, इससे हे अर्जुन, इस आत्मा को ऐसा जानकर तू शोक करने के योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है।

[भाष्य : १८–२५]

यदि तूँ इसको सदा जन्मने और सदा मारनेवाला माने तो भी हे अर्जुन, इस प्रकार शोक करने के योग्य नहीं है। क्योंकि ऐसा होने से तो जन्मने वाले की निश्चित मृत्यु और मरनेवाले का निश्चित जन्म होना सिद्ध हुआ। इससे भी तू इस बिना उपाय वाले विषय में शोक करने के योग्य नहीं है। हे अर्जुन, सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहिले बिना शरीरवाले और मरने के बाद भी बिना शरीरवाले ही हैं केवल बीच में ही शरीरवाले प्रतीत होते हैं, फिर उस विषय में क्या चिन्ता है। और हे अर्जुन, यह आत्मतत्त्व बड़ा गहन है, इसलिये कोई महापुरुष इस आत्मा को आश्चर्य की ज्यों देखता है और वैसे ही दूसरा कोई आश्चर्य की ज्यों इसके तत्त्व को कहता है और दूंसरा कोई आश्चर्य की ज्यों सुनता है और कोई कोई सुनकर भी इस आत्मा को नहीं जानता। हे अर्जुन, यह आत्मा सबके शरीर में सदा ही अवध्य है। इसलिये सम्पूर्ण भूत प्राणियों के लिये तू शोक करने के योग्य नहीं है। और अपने धर्म को देखकर भी तू भय करने के योग्य नहीं है, क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याण कारक कर्तव्य क्षत्रिय के लिये नहीं है। हे पार्थ, अपने आप प्राप्त हुये और खुले हुये स्वर्ग के द्वार रूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय लोग ही पाते हैं।

यदि तू इस धर्मयुक्त संग्राम को नहीं करेगा तो स्वधर्म को और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा। और सब लोग तेरी बहुत काल तक रहने वाली अपकीर्ति को भी कथन करेंगे और वह अपकीर्ति माननीय पुरुष के लिये मरण से भी अधिक बुरी होती है।

[भाष्य : २६-३४

और जिनके तू बहुत माननीय होकर भी अब तुच्छता को प्राप्त होगा वे महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से उपराम हुआ मानेंगे। और तेरे वैरी लोग तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए बहुत से न कहने योग्य बचनों को कहेंगे, फिर उससे अधिक दुःख क्या होगा। इससे युद्ध करना तेरे लिये सब प्रकार से अच्छा है, क्यों कि या तो मरकर स्वर्ग को प्राप्त होगा अथवा जीतकर पृथ्वी को पायेगा। इससे हे अर्जुन, युद्ध के लिये निश्चय वाला होकर खड़ा हो। यदि तुम्हें स्वर्ग तथा राज्य की इच्छा नहीं हो तो भी सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझ कर उसके उपरान्त युद्ध के लिये तैयार हो। इस प्रकार युद्ध करने में तू पाप को नहीं प्राप्त होगा। हे पार्थ, यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञान-योग के विषय में कही गयी और इसीको अब निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन कि जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू कर्मों के बन्धन को अच्छी तरह से नाश करेगा इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ का अर्थात् बीज का नाश नहीं हैं और उल्टा फल रूप दोष भी नहीं होता है। इसलिये इस निष्काम कर्मयोग रूप धर्म का थोड़ा भी साधन जन्म-मृत्यु रूप महान भय से उद्धार कर देता है।

हे अर्जुन, इस कल्याण मार्ग में निश्चयात्मक बुद्धि एक ही है और अज्ञानी सकामी पुरुषों की बुद्धियाँ बहुत भेदों वाली अनन्त होती हैं। और हे पार्थ, जो सकामी पुरुष केवल फल श्रुति में प्रीति रखने वाले स्वर्ग को ही परम श्रेष्ठ मानने वाले, इससे बढ़कर और कुछ नही है ऐसा कहने वाले हैं।

[भाष्य : ३५–४२]

वे अविवेकी जन जन्म रूप कर्मफल को देनेवाली और भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये बहुत सी क्रियाओं के विस्तार वाली इस प्रकार की जिस दिखाऊ शोभा युक्त वाणी को कहते हैं उस वाणी द्वारा हरे हुए चित्त वाले तथा भोग और ऐश्वर्य में आसक्तिवाले उन पुरुषों के अन्तःकरण में निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती है। हे अर्जुन, सब भेद तीनो गुणों के कार्यरूप संसार को विषय करने वाले अर्थात् प्रकाश करने वाले हैं । इसलिये तू असंसारी अर्थात् निष्कामी और सुख दुःखादि द्वन्द्वों से रहित नित्य वस्तु में स्थित तथा योग, क्षेम को न चाहने वाला और आत्मपरायण हो। क्योंकि मनुष्य का सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त होने पर छोटे जलाशय में जितना प्रयोजन रहता है अच्छी प्रकार ब्रह्म को जानने वाले ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मानन्द प्राप्त ब्रह्म का भी सब वेदों में उतना ही प्रयोजन रहता है। इससे तेरा कर्म करने मात्र में ही अधिकार है, फल में कभी नहीं और तू कर्मों के फल की वासना वाला मत हो तथा तेरी कर्म न करने में प्रीति न होवे ।

हे धनंजय, आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ कर्मों को कर, यह समत्व भाव ही योग नाम से कहा जाता है। इस समत्व रूप (निष्काम रूप) बुद्धि योग से सकाम कर्म अत्यन्त तुच्छ है, इसलिये हे धनंजय, समत्व बुद्धि योग का आश्रय ग्रहण कर क्योंकि फल की वासना वाले अत्यन्त दीन हैं ।

[भाष्य : ४२-४९]

समत्व बुद्धियुक्त पुरुष पुण्य-पाप दोनों को इस लोग में ही त्याग देता है अर्थात् उनसे लिपायमान नहीं होता। इससे समत्व बुद्धि योग के लिये ही चेष्टा कर। यह योग ही कर्मों में चतुरता है अर्थात् कर्म-बन्धन से छूटने का उपाय है। क्योंकि बुद्धि योग युक्त ज्ञानीजन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्याग कर जन्म रूप बन्धन से छूटे हुए निदोष अर्थात् अमृतमय परमपद को प्राप्त होता है। और हे अर्जुन, जिस काल में तेरी बुद्धि मोहरूप दल-दल को बिलकुल तर जायगी तब तू सुनने योग्य और सुने हुए के वैराग्य को प्राप्त होगा। जब तेरी अनेक प्रकार के सिद्धान्तों को सुनने से विचलित हुई बुद्धि परमात्मा के स्वरूप में अचल और स्थिर ठहर जायेगी तब तू समत्व रूप योग को प्राप्त होगा। इस प्रकार भगवान के बचनों को सुनकर अर्जुन ने पूछा—हे केशव, समाधि में स्थित स्थिर बुद्धि वाले पुरुष का क्या लक्षण है और स्थिर बुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है। उसके उपरान्त श्री कृष्ण महाराज बोले—हे अर्जुन, जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग देता है उस काल में आत्मा से ही आत्मा में संतुष्ट हुआ स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है। तथा दुःखों की प्राप्ति में उद्वेग रहित है मन जिसका और सुखों की प्राप्ति में दूर हो गयी है स्पृहा जिसकी तथा नष्ट हो गये हैं राग, भय और क्रोध जिसके ऐसा मुनि स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है।

[भाष्य : ५०–५६]

जो पुरुष सर्वत्र स्नेह रहित हुआ उस-उस शुभ तथा अशुभ वस्तुओं को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है। और कछुआ अपने अङ्गों को जैसे समेट लेता है वैसे ही यह पुरुष जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है। यद्यपि इन्द्रियों के द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले पुरुष के केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं परन्तु राग नहीं निवृत्त होता और इस पुरुष का तो राग भी परमात्मा को साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है। और हे अर्जुन, जिससे कि यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष के भी मन को यह प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ बलात्कार से हर लेती हैं। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त हुआ मेरे परायण स्थित होवे, क्योंकि जिस पुरुष के इन्द्रियाँ वश में होती हैं उसकी ही बुद्धि स्थिर होती है।

विषयों को चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है और आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अविवेक अर्थात् मूढ़ भाव उत्पन्न होता है और अविवेक से स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है और स्मृति के भ्रमित हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि के नाश होने से यह पुरुष अपने श्रेय साधन से गिर जाता है।

[भाष्य : ५७-६३]

परन्तु स्वाधीन अन्तःकरण वाला पुरुष राग-द्वेष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता अर्थात् स्वच्छता को प्राप्त होता है। और उस निर्मलता के होने पर इसके सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्त वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही अच्छी प्रकार स्थिर हो जाती है। साधन रहित पुरुष के अन्तःकरण में श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती है और उस अयुक्त के अन्तःकरण में आस्तिक भाव भी नहीं होता और बिना आस्तिक भाव वाले पुरुष को शान्ति भी नहीं होती फिर शान्ति रहित पुरुष को सुख कैसे हो सकता है। क्योंकि जल में वायु नाव को जैसे हर लेता है, वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के बीच में जिस इन्द्रिय के साथ मन रहता है वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को हरण कर लेतो है।

इससे हे महाबाहो, जिस पुरुष की इन्द्रियाँ सब प्रकार इन्द्रियों के विषयों से वश में की हुई होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है। और हे अर्जुन, संम्पूर्ण भूत प्राणियों के लिये जो रात्रि है, उस नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमानन्द में भगवत् को प्राप्त हुआ योगी पुरुष जागता है और जिस नाशवान क्षणभंगुर सांसारिक सुख में सब भूत प्राणी जागते हैं तत्त्व को जानने वाले मुनि के लिये वह रात्रि है।

[भाष्य : ६४–६९]

और जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र के प्रति नाना नदियों के जल उसको चलायमान न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही जिस स्थिर बुद्धि पुरुष के प्रति सम्पूर्ण भोग किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वह पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है न कि भोगों को चाहने वाला। क्योंकि जो पुरुष संपूर्ण कामनाओं को त्याग कर ममता रहित और अहंकार रहित, स्पृहा रहित हुआ वर्तता है वह शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन, यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है, इसको प्राप्त होकर मोहित नहीं होता है और अन्त काल में भी इस निष्ठा में स्थित होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है।

भाष्य : ७०–७२

॥ इति सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

—:०:—

द्वितीय अध्याय : व्यवहार दर्शन

इस अध्याय में श्री कृष्ण परमात्मा ने अर्जुन को देह से सम्बन्ध "स्वार्थ" और आत्मा से सम्बन्ध "परमार्थ" पर विवेचन कर भली-भाँति समझाया है। इस मृत्युलोक में देह के सम्बन्ध के अनुसार कुटुम्ब, परिवार और पूज्य जनों में आदर भाव के कारण अर्जुन को विषाद हुआ और अर्जुन ने 'युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा जो कहा वह बहुत उचित बात कही। परन्तु भगवान श्री कृष्ण ने इस देह के सम्बन्ध से भी ऊँचा आत्मा के सम्बन्ध के अनुसार सद्गुणों की रक्षा और धर्म-प्रतिष्ठा के लिये इस प्रकार समझाना प्रारम्भ किया—

आत्मा नित्य है, इसे कोई मार नहीं सकता। यह अजन्मा है और एक है, भिन्न-भिन्न नहीं है। जिस प्रकार शून्य आकाश एक होते हुये भी भिन्न-भिन्न घटों में भिन्न-भिन्न स्वरूपों में दीखता है उसी प्रकार पूर्वकृत कर्मों के आधार पर जिसे प्रारब्ध कहते हैं, इस कर्म रूपी घटों (देह) में कर्मों के अनुसार प्राणी भिन्न-भिन्न दीखता है और क्रिया भी उसीके अनुसार होती है। इस आत्मा को इस शरीर में प्रधान मान कर आत्म धर्म का पालन करना श्रेष्ठ है। जिस प्रकार देह के सम्बन्ध के अनुसार कर्तव्य करना "प्रेय" है उसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध से सद्धर्म और सद्गुणों की रक्षा करना "श्रेय" है। इसलिये इस श्रेय धर्म का पालन कर।

जो अन्यायी है, आततायी है, दूसरे के हक को कपट से अधिकार में कर रखा है, जो परस्त्री और अपनी कुल-बधू को भरी सभा में नग्न करने की चेष्टा करता है और उस नग्न बधू को अपनी जंघों पर बैठाना चाहता है ऐसी विचारधारा वाले को, जिस किसी प्रकार हो, नष्ट कर देना कर्तव्य है नहीं तो संसार का, इस ब्रह्माण्ड का क्रम बिगड़ जायगा और असमय में ही महाप्रलय हो जायगा। इसलिये हे अर्जुन, उठो। इस महान कार्य को करने के लिये तत्पर हो और यदि तू कर्म-बन्धन की चिन्ता करता है उसका निराकरण इस प्रकार है कि कर्म-बन्धन कर्तापन और कर्मफल की इच्छा रखने वालों के होता है तू कर्तापन ओर कर्मफल की इच्छा छोड़ कर कर्तव्य समझ कर कर्म कर। यही निष्काम कर्म समत्व योग है।

ऐसा करने से तुझे सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय सब में सम रहने की योग्यता आ जायेगी। इसलिये स्थिर प्रज्ञ होकर निश्चयात्मिका बुद्धि सहित अपने कर्तव्य कर्म करने के लिये दृढ़प्रतिज्ञ हो। ऐसा करने से तुम्हें कोई कर्म-बंन्धन नहीं होगा। राग-द्वेष रहित होकर आवश्यक इन्द्रियों के विषय को भोग और कर्तव्य का पालन कर। इससे तुझे सुख मिलेगा और चित्त प्रसन्न रहेगा। जिस प्रकार समुद्र में अनेक नदियों का जल आकर गिरता है परन्तु उसे समुद्र सहज भाव से अपने में मिला लेता है, उससे वह कुछ भी बिचलित नहीं होता। इसी प्रकार संसार में नियम है कि जो सदा प्रसन्न रहता है उसे कोई भी कष्ट संसार

में विचलित नहीं कर सकता । हे अर्जुन, सारी कामनाओं को छोड़ कर और स्पृहा रहित होकर, कुटुम्ब की ममता छोड़ कर, देह अभिमान को त्याग कर अपने कर्तव्य का पालन कर। इससे तुम्हें शान्ति मिलेगी, लोक में कल्याण होगा, परलोक के लिये कोई कर्म-बंन्धन नहीं होगा । इस प्रकार भगवान श्री कृष्ण ने बुद्धियोग के द्वारा अर्जुन को समत्व योग का पालन करते हुये निष्काम कर्म करने की सलाह दी । यही सांख्य योग है ।

॥ इति व्यवहार दर्शन द्वितीयोऽध्यायः ॥

—:o:—

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः पराधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो
नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

—:०:—

* श्री परमात्मने नमः *

तृतीय अध्याय : भाष्य

अर्जुन ने कहा—हे जनार्दन, यदि कर्मों की अपेक्षा ज्ञान आपको श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव, मुझे भयङ्कर कर्म में क्यों लगाते हैं ? मिले हुए वचन से मेरी बुद्धि को मोहित-सी करते हैं, इसलिये उस एक बात को निश्चय करके कहिये जिससे कल्याण को प्राप्त होऊँ। इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर भगवान श्री कृष्ण महाराज बोले—हे निष्पाप अर्जुन, इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गई है, ज्ञानियों की ज्ञानयोग से और योगियों की निष्काम कर्मयोग से। परन्तु किसी भी मार्ग के अनुसार कर्मों को स्वरूप से त्यागने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मनुष्य न तो कर्मों के न करने से निष्कर्मता को प्राप्त होता है और न कर्मों को त्यागने मात्र से सिद्धि को प्राप्त होता है। तथा सर्वथा कर्मों में स्वरूप से त्याग हो भी नहीं सकता क्योंकि कोई पुरुष किसी काल में क्षण मात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता है। निःसन्देह सब ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं। जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठ से रोक कर इन्द्रियों के भोगों को मन से चिन्तन करता रहता है वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है। और हे अर्जुन, जो पुरुष मनसे इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है वह श्रेष्ठ है।

[भाष्य : १–७]

इसलिये तू शास्त्रविधि से नियत किये हुए स्वधर्म रूप कर्म को कर क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा। और हे अर्जुन, बन्धन के भय से भी कर्मों का त्याग करना योग्य नही है, क्योंकि यज्ञ अर्थात् विष्णु के निमित्त किये हुए कर्म के सिवाय अन्य कर्म से लगा हुआ ही यह मनुष्य कर्मों द्वारा बँधता है। इसलिये हे अर्जुन, आसक्ति से रहित हुआ उस परमेश्वर के निमित्त कर्म का भली प्रकार आचरण कर। प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि को प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगों की इच्छित कामनाओं का देनेवाला होवे। तथा तुम लोग इस यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करो और वे देवता लोग तुमलोगों की उन्नति करें। इस प्रकार आपस में कर्त्तव्य समझकर उन्नति करते हुए परम कल्याण को प्राप्त होवोगे। यज्ञ द्वारा प्रसन्न हुए देवतालोग तुम्हारे लिये बिना मांगे ही प्रिय भोगों को देगें। उनके द्वारा दिये हुए भोगों को जो पुरुष इनके लिये बिना दिये ही भोगता है वह निश्चिय चोर है। यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूटते हैं और जो पापी लोग अपने शरीर पोषण के लिये ही पकाते हैं वे तो पाप को ही खाते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं और उन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है और वृष्टि यज्ञ से होती है और वह यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होने वाला है।

[भाष्य : ८–१४]

कर्म को तू वेद से उत्पन्न हुआ जान और वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। इससे सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञ से प्रतिष्ठित है। हे पार्थ, जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार चलाये हुए सृष्टि चक्र के अनुसार नहीं बर्तता है अर्थात् शास्त्र अनुसार कर्मों को नहीं करता है वह इन्द्रियों के सुख को भोगने वाला पाप आयु पुरुष व्यर्थ ही जीता है। परन्तु जो मनुष्य आत्मा ही में प्रीतिवाला और आत्मा ही में तृप्त तथा आत्मा में ही संतुष्ट होवे उसके लिये कोई कर्त्तव्य नहीं है। क्योंकि इस संसार में उस पुरुष का किये जाने से भी कोई प्रयोजन नहीं है और न किये जाने से भी कोई प्रयोजन नहीं है तथा इसका सम्पूर्ण भूतों में कुछ भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं है। तो भी उसके द्वारा केवल लोक हितार्थ कर्म किये जाते हैं। इससे तू अनासक्त हुआ निरन्तर कर्त्तव्य कर्म का अच्छी तरह आचरण कर, क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्मा को प्राप्त होता है।

इस प्रकार जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्ति रहित कर्म द्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, इसलिये तथा लोक संग्रह को देखता हुआ भी तू कर्म करने को ही योग्य है। क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी उस उसके ही अनुसार वर्तता है। वह पुरुष जो कुछ प्रमाणित कर देता है लोग भी उसके अनुसार बर्तते हैं। हे अर्जुन, यद्यपि मुझे तीनों लोकों में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है तथा किंचित भी प्राप्त होने के योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है तो भी मैं कर्म में ही वर्तता हूँ।

[भाष्य : १५–२२]

क्योंकि यदि मैं सावधान हुआ, कदाचित् कर्म में न बतूं तो हे अर्जुन, सब प्रकार से मनुष्य मेरे बर्ताव के अनुसार बर्तने लग जाय यदि मैं कर्म न करूँ तो यह लोक भ्रष्ट हो जाय और वर्णसंकर का उत्पन्न करने वाला होऊँ तथा इस सारी प्रजा को मारने वाला बनूं। हे भारत, कर्म में आसक्त हुए ज्ञानीजन जैसे कर्म करते हैं वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान भी लोक सग्रह को चाहता हुआ कर्म करे। तथा ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि कर्म में आसक्तिवाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम अर्थात् कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे किन्तु स्वयम् परमात्मा के स्वरूप में स्थित हुआ और सब कर्मों को अच्छी तरह करता हुआ उनसे भी वैसे ही करावे। और हे अर्जुन, वास्तव में सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए हैं तो भी अहंकार से मोहित हुए अन्तःकरण वाला पुरुष 'मैं करता हूं' ऐसा मान लेता है। परन्तु हे महाबाहो, गुण विभाग और कर्म विभाग के तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी पुरुष 'सम्पूर्ण गुण गुणों में बर्तते हैं' ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता है।

और प्रकृति के गुणों से मोहित हुए पुरुष गुण और कर्म में आसक्त होते हैं उन अच्छी तरह न समझने वाले मूर्खों को अच्छी तरह जानने वाले ज्ञानी पुरुष चलायमान न करे। इसलिये हे अर्जुन, तू ध्याननिष्ठ चित्त से सम्पूर्ण कर्मों को मुझ में समर्पण करके आशा-रहित और ममता रहित होकर सन्ताप रहित हुआ युद्ध कर।

[भाष्य : २३-३०]

और हे अर्जुन, जो कोई भी मनुष्य दोष बुद्धि से रहित और श्रद्धा से युक्त हुए सदा ही मेरे इस मत के अनुसार बर्तते हैं वे पुरुष संपूर्ण कर्मों से छूट जाते हैं। और जो दोष दृष्टि वाले मूर्ख लोग इस मेरे मत के अनुसार नहीं बर्तते हैं इन संपूर्ण ज्ञानों में मोहित चित्त वालों को तू कल्याण से भ्रष्ट हुए ही जान। क्योंकि सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभाव से परवश हुए कर्म करते हैं—ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। फिर इसमें किसी का हठ क्या करेगा। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि इन्द्रिय इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात् सभी इन्द्रियों के भोगों में स्थित जो राग और द्वेष हैं उन दोनों के वश में नहीं होवे, क्योंकि इसमें वे दोनों ही कल्याण मार्ग में विघ्न करने वाले महान शत्रु हैं। इसलिये उन दोनों को जीतकर सावधान हुआ स्वधर्म का आचरण करे क्योंकि अच्छी तरह आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्म में मरना भी कल्याण कारक है और दूसरे का धर्म भय देनेवाला है।

इस पर अर्जुन ने पूछा कि हे कृष्ण, फिर यह पुरुष बलात्कार से लगाये हुए के सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरा हुआ पाप का आचरण करता है।

[भाष्य : ३१–३६]

इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर श्री कृष्ण महाराज बोले– हे अर्जुन, रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। यह ही महा अशन अर्थात् अग्नि के सदृश भोगों से न तृप्त होनेवाला और बड़ा पापी है । इस विषय में इसको ही तू वैरी जान। जैसे धूए से अग्नि और मल से दर्पण ढक जाता है तथा जैसे जेर से गर्भ ढका हुआ है वैसे ही उस काम के द्वारा यह ज्ञान ढका हुआ हैं। और हे अर्जुन, इस अग्नि सदृश न पूर्ण होनेवाले कामरूप, ज्ञानियों के नित्य बैरी से ज्ञान ढका हुआ है । तथा इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसके वासस्थान कहे जाते हैं और यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा ही आच्छादित करके इस जीवात्मा को मोहित करता है। इसलिये हे अर्जुन, तू पहिले इन्द्रयों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान के नाश करने वाले इस काम पापी को निश्चय पूर्वक मार । क्योंकि इस शरीर से तो इन्द्रियों को श्रेष्ठ, बलवान और सूक्ष्म कहते हैं और इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन है और मन से श्रेष्ठ बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त श्रेष्ठ है वह आत्मा है। इस प्रकार बुद्धि से परे अर्थात् सूक्ष्म तथा सब प्रकार बलवान और श्रेष्ठ अपनी आत्मा को जानकर और बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहो, दुर्जय काम रूप शत्रु को मार।

[भाष्य : ३७–४३]

॥ इति कर्मयोगो नाम तृतीय अध्यायः ॥

—:०:—

तृतीय अध्याय : व्यवहार दर्शन

इस अध्याय में अनासक्त योग पालन करने के लिये विशेष जोर भगवान ने दिया है। प्रकृति के परवश हुए मनुष्य को कर्म करना पड़ता है यह त्रिगुणात्मिका माया अति बलवती है। इससे प्रकृति के सारे कार्य होते हैं। इस तत्त्व को अच्छी तरह समझकर मनुष्य को यहाँ के किसी भी पदार्थ में आसक्त नहीं होना चाहिये। आसक्त का तात्पर्य राग या द्वेष नहीं होना चाहिये। इसीका निरन्तर अभ्यास करे। इस मायिक जगत में कर्म बन्धन से बचने का यही एक मात्र उपाय है। अनासक्त कर्म को ही निष्काम कर्मयोग कहते हैं। इस योग के साधने के लिये एक सरल उपाय यह है कि किसी भी फल की इच्छा से कोई कार्य न करे सिर्फ कर्त्तव्य समझ कर काम करे। इससे कोई कर्म बन्धन नहीं होगा। जीवात्मा का सबसे बड़ा शत्रु काम है। इसकी उत्पत्ति रजोगुण से होती है और यह काम इन्द्रिय, मन और बुद्धि पर छा जाता है। इसकी प्रेरणा से मनुष्य नहीं करने योग्य कर्म भी कर बैठता है। काम अर्थात् संसार के पदार्थों को भोगने की प्रबल इच्छा, साधक को चाहिये इस जगह बचने का निरन्तर अभ्यास करता रहे। इसका सरल उपाय यह है कि संसार के विषयों को कम से कम शरीर निर्बाह के लिये ग्रहण करें, परन्तु शर्त्त यह है कि ग्रहण काल के बाद उसमें राग न रहे अर्थात् किसी भी प्रकार की वासना सर्वथा न रहे। यह अभ्यास धीरे-धीरे चेष्टा करने से सफल हो जाता है। यह

प्रबल शत्रु—इन्द्रिय,मन और बुद्धि तीनों को मोहित करके आक्रमण करता है। इसलिये इस पर विजय प्राप्त करने की कोशिश करते रहना चाहिये। सिर्फ स्वरूप से कर्म त्यागने से कोई लाभ होने की आशा नहीं है। इस शरीर में इन्द्रियाँ बलवती हैं। इससे अधिक मन और मन से अधिक बुद्धि ये सब काम के वास-स्थान है। यह काम ही बड़े से बड़े ज्ञानियों के ज्ञान को आच्छादित कर लेता हैं। इसलिये कामना विमुक्त होने की चेष्टा करने वाला जीव प्रभु शरणगति को प्राप्त करता है और इस कठिन संसार सागर से तर जाता है, जैसे राजा जनक इत्यादि। प्रकृति के परवश हुए सब को कर्म करना पड़ता है। इसमें हठपूर्वक कर्म छोड़ कर कोई कामना विमुक्त नहीं बन सकता। मैं भी इस संसार में सब कर्मों को करता रहता हूँ। यदि कर्म नहीं करूँ तो वर्णसंकर उत्पन्न करने वाला बनूँ। इसलिये कर्म को स्वरूप से त्यागने वालों को विचार कर समझना चाहिये। यही कर्मयोग है।

॥ इति तृतीय अध्याय : व्यवहार दर्शन ॥

—:०:—

ॐ श्रीपरमात्मेन नमः

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्त पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३६ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायंलोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यास योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

—:०:—

ॐ श्री परमात्मने नमः

चतुर्थ अध्याय : भाष्य

इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में मैंने सूर्य के प्रति कहा था और सूर्य ने अपने पुत्र मनु के प्रति कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु के प्रति कहा । इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने जाना, परन्तु हे अर्जुन, वह योग बहुत काल से इस पृथ्वी लोक में लोप प्रायः हो गया था । वह ही यह पुरातन योग अब मैंने तेरे लिये वर्णन किया है, क्योंकि तू मेरा भक्त और सखा है। इसलिये तथा यह योग बहुत उत्तम और रहस्य का विषय है ।

[भाष्य : १–३]

इस प्रकार भगवान श्री कृष्ण महाराज के वचन को सुनकर अर्जुन ने पूछा–हे भगवान, आपका जन्म तो अभी हुआ है और सूर्य का जन्म बहुत पुराना है। इस योग को कल्प के आदि में आपने कहा था यह मैं कैसे जानूँ। इस पर श्री कृष्ण भगवान बोले–हे अर्जुन, मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं, परन्तु हे परंतप, उन सब को तूं नहीं जानता है और मैं जानता हूँ तथा मेरा जन्म प्राकृत मनुष्यों के सदृश नहीं है। मैं अविनाशी स्वरूप अजन्मा होने पर भी तथा सब भूत-प्राणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को आधीन करके योगमाया से प्रकट होता हूँ।

हे भारत, जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने स्वरूप को प्रकट करता हूँ। क्योंकि साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिये और दूषित कर्म करनेवालों का नाश करने के लिये तथा धर्म स्थापन करने के लिये युग-युग में प्रकट होता हूँ। इसलिये हे अर्जुन, मेरा जन्म और कर्म दिव्य है। इस प्रकार जो पुरुष तत्त्व से जानता है वह शरीर को त्याग कर फिर जन्म को नहीं प्राप्त होता है किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है। और हे अर्जुन, पहले भी राग, भय, क्रोध से रहित अनन्य भाव से मेरे में स्थित वाले मेरे शरण हुए बहुत से पुरुष ज्ञानरूप तप से पवित्र हुए मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। हे अर्जुन, जो मेरे को जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ। इस रहस्य को जान कर ही बुद्धिमान मनुष्य सब प्रकार से ेरे मार्ग के अनुसार वर्तते हैं।

[भाष्य : ४–११]

और जो मेरे को तत्त्व से नहीं जानते हैं वे पुरुष इस मनुष्य लोक में कर्मों के फल को चाहते हुए देवताओं को पूजते हैं और उनके कर्मों से उत्पन्न हुई सिद्धि भी शीघ्र ही होती है। तथा हे अर्जुन, गुण कर्मों के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र मेरे द्वारा रचे गये हैं। उनके कर्त्ता को भी मुझ अविनाशी परमेश्वर को तू अकर्ता ही जान।

क्योंकि कर्मों के फल में मेरी स्पृहा नहीं है और इसलिये मेरे को कर्म लिपायमान नहीं करते। इस प्रकार जो मेरे को तत्त्व से जानता है वह भी कर्मों से नहीं बँधता है। तथा पहिले होनेवाले मुमुक्षु पुरुषों द्वारा भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किया गया है। इससे तू भी पूर्वजों द्वारा सदा से किये हुए कर्म को ही कर। परन्तु कर्म क्या है, अकर्म क्या है, ऐसे इस विषय में बुद्धिमान पुरुष भी मोहित है। इसलिये मैं वह कर्म अर्थात् कर्मों का तत्त्व तेरे लिये अच्छी तरह कहूँगा कि जिस को जानकर तू अशुभ अर्थात् संसार बन्धन से छूट जायगा। कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये तथा निषिद्ध कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये, क्योंकि कर्म की गति गहन है। जो पुरुष कर्म से अर्थात् अहंकार रहित की हुई सम्पूर्ण चेष्टाओं में अकर्म अर्थात् वास्तव में उनका न होनापन देखे और जो पुरुष अकर्म में अर्थात् अज्ञानी पुरुष द्वारा किये सम्पूर्ण क्रियायों के त्याग में कर्म को अर्थात् कर्म बंधन को देखे वह पुरुष मनुष्यों में बुद्धिमान है और वह योगी सम्पूर्ण कर्मों का भले प्रकार आचरण करने वाला है।

[भाष्य : १२–१८]

और हे अर्जुन, जिसके सम्पूर्ण कार्य, कामना और संकल्प से रहित हैं ऐसे उस ज्ञान रूप अग्नि द्वारा भस्म हुए कर्मों वाले पुरुष को ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं। और जो पुरुष सांसारिक आश्रय से रहित सदा परमानन्द परमात्मा में तृप्त है वह कर्मों के फल और संगठित अर्थात् कर्तृत्व अभिमान को त्याग कर कर्म में अच्छी तरह बर्तता हुआ भी कुछ भी नहीं करता है। और जीत लिया है अन्तःकरण और शरीर जिसने तथा त्याग दी है सम्पूर्ण भोगों की सामग्री जिसने ऐसा आशा रहित पुरुष केवल शरीर सम्बन्धी कर्म को करता हुआ भी पाप को नहीं प्राप्त होता है। और पूर्ण परिश्रम के बाद जो कुछ प्राप्त हो उसमें संतुष्ट रहने वाला हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से अतीत हुआ तथा ईर्ष्या से रहित सिद्धि और असिद्धि में समत्व भाव वाला पुरुष कर्मों को करके भी नहीं बंधता है। क्योंकि आसक्ति से रहित ज्ञान में स्थित हुए चित्त वाले यज्ञ के लिये आचरण करते हुए मुक्त पुरुष के सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। उन यज्ञ के लिये आचरण करने वाले पुरुषों में से कोई तो इस भाव से यज्ञ करते हैं कि अर्पण अर्थात् स्रुवादिक भी ब्रह्म है और हवन करने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है। ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्म रूप कर्त्ता के द्वारा जो हवन किया गया है वह भी ब्रह्म है, इसलिये ब्रह्म रूप कर्म में समाधिस्थ हुये उस पुरुष द्वारा जो प्राप्त होने योग्य है वह भी ब्रह्म है।

[भाष्य : १९–२४]

और दूसरे योगी देवताओं के पूजन रूप यज्ञ को ही अच्छी प्रकार उपासते हैं अर्थात् करते हैं और दूसरे ज्ञानीजन पर ब्रह्म परमात्मा रूप अग्नि में यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ को हवन करते हैं। और अन्य योगीजन श्रोत्रादिक सब इन्द्रियों को संयम रूप अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से रोक कर अपने वश में कर लेते हैं, और दूसरे योगीलोग शब्दादिक विषयों को इन्द्रिय रूप में अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् राग-द्वेष रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण करते हुए भी भस्म रूप करते हैं। और योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियों की चेष्टाओं तथा प्राणों के व्यापार को ज्ञान से प्रकाशित हुई परमात्मा में स्थिति रूप योग अग्नि में हवन करते हैं। और दूसरे कई पुरुष ईश्वर अर्पण बुद्धि से लोक सेवा में द्रव्य लगाने वाले हैं वैसे ही कई पुरुष स्वधर्म पालन रूप तप-यज्ञ को करने वाले हैं और कई अष्टांग रूप यज्ञ को करते हैं और कई दूसरे अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष भगवान के नाम का जप तथा भगवत्प्राप्ति विषयक शास्त्रों का अध्यान रूप ज्ञान-यज्ञ के करने वाले हैं। और दूसरे योगीजन अपान वायु में प्राण वायु को हवन करते हैं, बैसे ही अन्य योगीजन प्राण और अपान की गति को रोक कर प्राणायाम के परायण होते हैं। और दूसरे नियमित आहार करने वाले योगीजन प्राणों को प्राणों में ही हवन करते हैं। इस प्रकार यज्ञों द्वारा नाश हो गया है पाप जिनका ऐसे यह सब ही पुरुष यज्ञों को जानने वाले हैं।

[भाष्य : २५-३०]

और हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन, यज्ञों के परिणाम रूप ज्ञानामृत को भोगने वाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं और यज्ञ रहित पुरुष को यह मनुष्य-लोक भी सुखदायक नहीं है फिर परलोक कैसे सुखदायक होगा । ऐसे बहुत प्रकार के यज्ञ वेद की वाणी में विस्तार किये गये हैं । उन सब को शरीर, मन और इन्द्रियों की क्रिया द्वारा ही उत्पन्न होने वाले जान । इस प्रकार तत्त्व से जान कर निष्काम कर्मयोग द्वारा संसार-बन्धन से मुक्त हो जायगा । और हे अर्जुन, सांसारिक वस्तुओं से सिद्ध होने वाले यज्ञ से ज्ञान रूप यज्ञ सब प्रकार श्रेष्ठ है । क्योंकि हे पार्थ, सम्पूर्ण यावन्मात्र कर्म ज्ञान में शेष होते हैं अर्थात् ज्ञान उनकी पराकाष्ठा है । इसलिये तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी पुरुषों से भली-भाँति दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भाव से किये हुए प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को जान । वे मर्म को जानने वाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे ।

जिसको जानकर तू फिर इस प्रकार मोह को प्राप्त नहीं होगा और हे अर्जुन, जिस ज्ञान के द्वारा सर्वव्यापी अनन्त चेतनरूप हुआ अपने अन्तर्गत समष्टि बुद्धि के आधार सम्पूर्ण भूतों को देखेगा और उसके उपरान्त मेरे में अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप में एकीभाव हुआ सच्चिदानन्दमय ही देखेगा । और यदि तू सब पापियों से अधिक पाप करने वाला है तो भी ज्ञान रूप नौका द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पापों को अच्छे प्रकार तर जायगा ।

[भाष्य : ३१–३७]

क्योंकि हे अर्जुन, जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि इन्धन को भस्ममय कर देता है वैसे ही ज्ञान रूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देता है। इसलिये इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को कितने काल से अपने आप समत्व बुद्धि रूप योग के द्वारा अच्छी तरह शुद्धान्तःकरण हुआ पुरुष आत्मा में अनुभव करता है। और हे अर्जुन, जितेन्द्रिय तत्पर हुआ श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान को प्राप्त होता है। ज्ञान को प्राप्त हो कर तत्क्षण भगवान प्राप्ति रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है। भगवत् विषय को न जानने वाला तथा श्रद्धा रहित और संशय युक्त पुरूष परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है। उनमें भी संशय युक्त पुरुष के लिये तो न सुख है और न यह लोक है, न परलोक है अर्थात् यह लोक और परलोक दोनों ही भ्रष्ट हो जाते हैं।

हे धनंजय, समत्व बुद्धि रूप योग द्वारा भगवत् अर्पण कर दिये हैं सम्पूर्ण कर्म जिसने और ज्ञान द्वारा नष्ट हो गये हैं सब संशय जिसके ऐसे परमात्म परायण पुरुष को कर्म नहीं बाँधते हैं। इससे हे भरतवंशी अर्जुन, तू समत्व बुद्धि रूप योग में स्थित हो और अज्ञान से उत्पन्न हुए हृदय में स्थित इस अपने संशय को ज्ञान रूप तलवार द्वारा छेदन करके युद्ध के लिये खड़ा हो।

[भाष्य : ३८–४२]

इति ज्ञान-कर्म-संन्यास-योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः।

—:०:—

चतुर्थ अध्याय : व्यवहार दर्शन

इस अध्याय में जिस अविनाशी योग का वर्णन श्री कृष्ण परमात्मा ने किया है वह अनासक्त योग है। आजकल यह लुप्तप्राय है, क्योंकि इस योग की व्यवहार क्रिया को लोग नहीं जानते। अनेक जन्म, भूत-प्राणियों के हो चुके, परन्तु कर्म कटे बिना या समाप्त हुये बिना परम शान्ति को नहीं पाता। कर्म कटने का मार्ग एक मात्र ज्ञान है। वह तत्त्वज्ञान है, निष्काम कर्म योग जिसका तात्पर्य है आसक्ति रहित कर्म। गीता के इस मूल सिद्धान्त को अच्छी तरह समझकर अभ्यास करने से जन्म-मरण से जीव मुक्त हो सकता है। परन्तु इसका अभ्यास कैसे किया जाय?

सर्वप्रथम जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त होने की प्रबल जिज्ञासा जाग्रत करनी चाहिये। इस जिज्ञासा को अन्तःकरण में अच्छी तरह धारण कर इसका मूल कारण कर्म बन्धन को समझे। एवं कर्म करने का एकमात्र उपाय है फल-इच्छा रहित कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म करना, जिससे किसी भी कर्म में लिपायमान न होवे। यही अनासक्त योग है। इस ज्ञान को प्राप्त कर इसके अनुसार आचरण करने से कर्म-बन्धन से मुक्त हो जायगा। सिर्फ प्रारब्ध अर्थात् पहले आसक्ति सहित किये हुये कर्म को भोग कर परम शान्ति को निःसन्देह प्राप्त करेगा। संशयात्मा मनुष्य-लोक और परलोक कहीं भी शान्ति नहीं पाता। इसलिये भलीभाँति समझ कर संशय रहित हो इस ज्ञान के अनुसार कर्त्तव्य कर्म को करे। अन्यथा जो जिस मनोरथ से जिस देवता को पूजते हैं प्रभु उन देवताओं के मारफत इच्छित फल को देते हैं। वह इसे प्राप्त कर सुख अनुभव

करता है, परन्तु ये सब संसार-बन्धन के हेतु हैं । यज्ञ अर्थात् प्रभु को समर्पण किया हुआ कर्म, कर्तृत्व अभिमान छोड़ कर करने से राग, भय, क्रोध रहित रहेगा और ऐसे आचरण करने से परम शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

जब इस धर्म की हानि होती है अर्थात् संसार में आसक्ति बढ़ जाती है, तब मनुष्य सिर्फ अपने स्वार्थ को प्रधानता देकर कर्म करता है । इसके परिणाम स्वरूप तमोगुण युक्त दुष्कृत कर्म करने वाले वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं । एवं संसार में साधुवाद समाप्त प्राय हो जाता है। ऐसे काल में सत्चित आनन्द स्वरूप परमात्मा अपनी प्रकृति को अधीन करके अर्थात् योगमाया से दिव्य अलौकिक रूप में प्रकट होकर धर्म की प्रतिष्ठा करते हैं स्वार्थ बुद्धि रहित आसक्ति रहित केवल परमार्थ बुद्धि से अनासक्त हो कर कर्म करने की प्रेरणा देते हैं । इस तथ्य को समझ कर जो संसार में विचरण करते हैं वे मुक्त हैं और प्रभु शरणगति प्राप्त करते हैं । और जो इसके विपरीत संसार में शनैःशनै आसक्त हो जाते हैं वे कर्म बन्धन के कारण अनेक जन्मों को प्राप्त करते हैं । इस ज्ञान को श्रद्धावान व्यक्ति ही प्राप्त कर सकता है । इसलिये श्रद्धावान हो कर संशय छोड़ कर अपने कर्तव्य कर्म को करना चाहिये । इससे कोई कर्म-बन्धन नहीं होगा और परम शान्ति को प्राप्त करेगा।

॥ इति चतुर्थ अध्याय : व्यवहार दर्शन ॥

—:०:—

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥
कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गंत्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीर विमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः सं सुखी नरः ॥ २३ ॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो
नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

—:०:—

* श्री परमात्मने नमः *

पञ्चम अध्याय : भाष्य

हे कृष्ण, आप कर्मों के संन्यास की और फिर निष्काम कर्म योग की प्रशंसा करते हैं, इसलिये इन दोनों में एक जो निश्चय किया हुआ कल्याण कारक होवे उसको मेरे किये कहिये। इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर श्री कृष्ण महाराज बोले—हे अर्जुन, कर्मों का संन्यास और निष्काम कर्मयोग ये दोनों ही परम कल्याण के करनेवाले हैं, परन्तु उन दोनों में भी कर्मों के संन्यास से निष्काम कर्मयोग साधन में सुगम होने से श्रेष्ठ है। इसलिये हे अर्जुन, जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है और न किसी की आकाङ्क्षा करता है वह निष्काम कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है क्योंकि राग द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसार रूप बन्धन से मुक्त हो जाता है। और हे अर्जुन, ऊपर कहे हुए संन्यास और निष्काम कर्मयोग को मूर्खलोग अलग-अलग फलवाले कहते हैं न कि पण्डित जन, क्योंकि दोनों में से एक में भी अच्छी तहर स्थित हुआ पुरुष दोनों के फलरूप परमात्मा को प्राप्त होता है। तथा ज्ञान योगियों द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है निष्काम कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोग दोनों को फल रूप से एक देखता है वह ही यर्थात् देखता है।

[भाष्य : १–५]

परन्तु हे अर्जुन, निष्काम कर्मयोग के बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रियों और शरीर द्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन का त्याग प्राप्त होना कठिन है। भगवत् स्वरूप को मनन करने वाला निष्काम कर्मयोगी परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। वश में किया हुआ है शरीर जिसके ऐसे जितेन्द्रिय और विशुद्ध अन्तःकरणवाला एवं सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मरूप परमात्मा में एकीभाव हुआ निष्काम कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिपायमान नहीं होता। और हे अर्जुन, तत्त्व को जानने वाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, त्यागता हुआ, बोलता हुआ, ग्रहण करता हुआ, तथा आँखों को खोलता और मींचता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में बर्त रही हैं इस प्रकार समझता हुआ निःसन्देह ऐसे माने कि मैं कुछ भी नही करता हूं। परन्तु हे अर्जुन, देहाभिमानियों द्वारा यह साधन होना कठिन है और निष्काम कर्मयोग सुगम है, क्योंकि जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है वह पुरुष जल से कमल के पत्ते की सदृश पाप से लिपायमान नहीं होता।

इसलिये निष्काम कर्मयोगी ममत्व बुद्धि रहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्याग कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं।

[भाष्य : ६–११]

इसीसे निष्काम कर्मयोगी कर्मों के फल को परमेश्वर के अर्पण करके भगवत् प्राप्ति रूप शान्ति को प्राप्त होता है और सकामी पुरुष फल में आसक्त हुआ कामना के द्वारा बँधता है, इसलिये निष्काम कर्मयोग उत्तम है। और हे अर्जुन, वशमें है अन्तःकरण जिसके ऐसा सांख्य योग का आचरण करने वाला पुरुष तो निःसन्देह न करता हुआ और न करवाता हुआ नवद्वारों वाले शरीर रूप घर में सब कर्मों को मन से त्याग कर अर्थात् इन्द्रियाँ इन्द्रियों के अर्थों में बर्तती हैं ऐसा मानता हुआ आनन्द पूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में स्थित रहता है। और परमेश्वर भी भूत प्राणियों के न कर्तापन को और न कर्मों को तथा न कर्मों के फल के संयोग को वास्तव में रचता है, किन्तु परमात्मा के सकाश से प्रकृति ही वर्तती है, अर्थात् गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं। और सर्वव्यापी परमात्मा न किसी के पाप कर्म को और न किसी के शुभ कर्म को ही ग्रहण करता है किन्तु माया के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं। परन्तु जिनका वह अन्तःकरण का अज्ञान आत्मज्ञान द्वारा नाश हो गया है उनका वह ज्ञान सूर्य के सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्मा को प्रकाशता है। अर्थात् परमात्मा के स्वरूप का साक्षात् करता है।

[भाष्य : १२–१६

और हे अर्जुन, तद्रूप है बुद्धि जिनकी तथा तद्रूप है मन जिसका और उस सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही है निरन्तर एकीभाव से स्थिति जिनकी ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान के द्वारा पाप रहित हुए अपुनरावृत्ति को अर्थात् परम गति को प्राप्त होते हैं। ऐसे वे ज्ञानीजन विद्या और विनय युक्त ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में आत्म-तत्त्व को समभाव से देखने वाले होते हैं, व्यवहार, योनि को समझते हुए करते हैं। इसलिये जिनका मन समत्व भाव में स्थित है उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही स्थिर है। और जो पुरुष प्रिय को अर्थात् जिसको लोग प्रिय समझते हैं उसको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रिय को अर्थात् जिसको लोग अप्रिय समझते हैं उसको प्राप्त हो कर उद्वेगवान् न हो ऐसा स्थित बुद्धि संशय रहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदनन्दघन परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव से नित्य स्थित है। और बाहर के विषयों में अर्थात् सांसारिक भोगों में आसक्ति रहित अन्तःकरण वाला पुरुष अन्तःकरण में जो भगवत् ध्यान जनित आनन्द है उसको प्राप्त होता है और वह पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा रूप योग में एकीभाव से स्थित हुआ अक्षय आनन्द का अनुभव करता है।

[भाष्य : १७-२१]

और जो यह इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं वे यद्यपि विषयी पुरुषों को सुख रूप भासते हैं तो भी निःसन्देह दुःख के ही हेतु हैं और आदि अन्त वाले अर्थात् अनित्य हैं, इसलिये हे अर्जुन, बुद्धिमान विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता। जो शरीर के नाश होने से पहिले ही काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहन करने में समर्थ है अर्थात् काम, क्रोध को जिसने सदा के लिये जीत लिया है वह मनुष्य इस लोक में योगी है और वही सुखी है। जो पुरुष निश्चय करके अन्तर आत्मा में ही सुखवाला है और आत्मा में ही आराम वाला है तथा जो आत्मा में ही ज्ञान वाला है ऐसा वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभाव हुआ सांख्ययोगी शान्त ब्रह्म को प्राप्त होता है। और नाश हो गये हैं सब पाप जिनके तथा ज्ञान करके निवृत्त हो गया है संशय जिनका और सम्पूर्ण भूत प्राणियों के हित में है रति जिनकी, एकाग्र हुआ है भगवान के ध्यान में चित्त जिनका ऐसे ब्रह्मवेता पुरुष शान्त परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। और काम क्रोध से रहित जीते हुए चित्त वाले परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषों के लिये सब ओर से शान्त परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्त है।

और हे अर्जुन, बाहर के विषय-भोगों को न चिन्तन करता हुआ बाहर ही त्याग कर और नेत्रों की दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थित करके तथा नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके।

[भाष्य : २२–२७]

जीती हुई हैं इन्द्रियां, मन और बुद्धि जिसकी, ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि परमेश्वर के स्वरूप को निरन्तर मनन करने वाला इच्छा, भय और क्रोध से रहित है वह सदा मुक्त ही है। और हे अर्जुन, मेरा भक्त मेरे को यज्ञ और तपों का भोगने वाला और सम्पूर्ण लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियों का सुहृद अर्थात् स्वार्थ रहित प्रेमी ऐसा तत्त्व से जानकर शान्ति को प्राप्त होता है। और सच्चिदानन्द परिपूर्ण शान्त ब्रह्म के सिवाय उसकी दृष्टि में और कुछ भी नहीं रहता, केवल वासुदेव ही रह जाता है।

[भाष्य : २८–२९]

॥ इति संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

—:०:—

पञ्चम अध्याय : व्यवहार दर्शन

इस अध्याय में श्री कृष्ण परमात्मा ने कर्मों का सन्यास तथा निष्काम कर्मयोग का विवेचन भलीभाँति अर्जुन को समझाया। व्यावहारिक जगत में हम इसका उपयोग किस प्रकार करें, इसलिये इस योग को सरल विधि से समझकर अपने दैनिक जीवन में प्रयोग करें।

कर्मों का संन्यास : इसमें सांसारिक कर्मों को करते हुए कर्तापन के अभिमान का सर्वथा त्याग करना पड़ता है। जैसे संसार के सारे कर्म प्रकृति, गुण और कर्म विभाग के द्वारा संचालित करती है। इसमें किसी देहधारी को अपने को कर्ता मानना बिलकुल गलत है। तात्पर्य यह कि संसार के सब कर्मों को भोग लिप्सा रहित करता हुआ भी प्रकृति को ही कर्त्ता मानता है। इस देह को लेकर कर्त्तापन का भाव स्वप्न में भी नहीं लाता इसे कर्मों का संन्यास कहते हैं। यह योग देहधारियों के लिये पालन करना अत्यन्त कठिन है। इस योग में सफलता प्राप्त करने के लिये लोग कर्मों को स्वरूप से त्याग कर अभ्यास करते हैं, परन्तु मन से कर्तृत्व अभिमान का सर्वथा त्याग नहीं होने के कारण सफलता नहीं मिलती। इसलिये निष्काम कर्मयोग सुगम है।

निष्काम कर्मयोग : इस में सांसारिक विधि कर्मों को करते समय कर्त्तापन का ध्यान रहता है, परन्तु उस किये हुए कर्म के फल में किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रहती।

फल की आसक्ति को छोड़ना थोड़े अभ्यास से सम्भव है। फल की आसक्ति छोड़ने का उपाय यह है कि व्यवहार जीवन में किसी कर्म को करने के पहले अपने कर्तव्य को निश्चय करने के लिये अच्छी तरह विचार कर लेवे। फिर क्रिया काल में उसके फल का चिंतन करना अनावश्यक है, जैसे किसी ने एक आम का वृक्ष लगाया और उस वृक्ष की सिंचाई के द्वारा सेवा करता है कि उससे अच्छे आम मिलेंगे। इस फल का चिंतन भी करता रहता है, परन्तु इसका फल तो वृक्ष में आम आने की अवधि के बाद ही प्राप्त होगा। उस काल में वह जो भी विचार करता है वह उसके मिथ्या सुख दुःख का कारण बनता है।

इसलिये कर्त्तापन का त्याग तथा कर्म-फल का त्याग दोनों का फल एक ही होता है, कारण कर्त्तापन का त्याग करने से वह संसार के भोगों में अनासक्त रहता है। और कर्म फल का त्याग भी तभी संभव है जब कि वह किसी भी भोग सामग्री में आसक्त न होवे। इसलिये फलरूप में दोनों को एक माना गया है। ऐसे अभ्यास से संसार के पदार्थों को आवश्यकता अनुसार ग्रहण करता हुआ भी वह असंग रहता है। इसलिये उसका अन्तःकरण निर्मल और पवित्र रहता है और उस शुद्ध अन्तःकरण में भगवत् ध्यान जनित आनन्द का अनुभव करता रहता है। प्रारब्ध से प्राप्त इस देह जनित कर्मों को भोग कर अन्त में सनातन ब्रह्म में लय हो जाता है।

॥ इति व्यवहार दर्शन : पञ्चम अध्याय ॥

—:०:—

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

योगीनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो
नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

—:o:—

* ॐ श्री परमात्मने नमः *

षष्ठ अध्याय : भाष्य

श्री कृष्ण भगवान ने कहा–जो पुरुष कर्म के फल को न चाहता हुआ करने योग्य कर्म करता है वह संन्यासी और योगी है और केवल अग्नि को त्यागने वाला संन्यासी योगी नहीं है तथा क्रियाओं को त्यागने वाला भी संन्यासी योगी नहीं है। हे अर्जुन, जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं उसीको तू योग (निष्काम कर्मयोग) जान क्योंकि संकल्पोंको न त्यागने वाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता है। और समत्व बुद्धि रूप योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मननशील पुरुष के लिये योग की प्राप्ति में निष्काम भाव से कर्म करना ही हेतु कहा है और योगारूढ़ हो जाने पर उस योगारूढ़ पुरुष के लिये सर्व संकल्पों का अभाव ही कल्याण में हेतु कहा है। जिस काल में न तो इन्द्रियों के भोगों में आसक्त होता है तथा न कर्मों में ही आसक्त होता है उस काल में सर्व संकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि अपने द्वारा आपका संसार समुद्र से उद्धार करे और अपने आत्मा को अधोगति में न पहुँचावे क्योंकि यह जीवात्मा आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। अर्थात् कोई दूसरा शत्रु या मित्र नहीं है।

[भाष्य : १–५]

उस जीवात्मा का तो वह आप ही मित्र है कि जिस जीवात्मा द्वारा मन और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है, जिसके द्वारा मन और इन्द्रियों सहित शरीर नहीं जीता गया है उसका वह मन ही शत्रु के सदृश शत्रुता में वर्तता हैं ।

और हे अर्जुन, सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि में तथा मान और अपमान में जिसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ अच्छी तरह शान्त हैं अर्थात् विकार रहित हैं ऐसे स्वाधीन आत्मा वाले पुरुष के ज्ञान में सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित है, अर्थात् उसके ज्ञान में परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं । और ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है अन्तःकरण जिसका तथा विकार रहित है स्थिति जिसकी तथा अच्छी तरह जीती हुई हैं इन्द्रियाँ जिसकी तथा समान है मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण जिसके वह योगी युक्त अर्थात् भगवत् की प्राप्ति वाला है ऐसा कहा जाता है । और जो पुरुष सुहद, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुगणों में तथा धर्मात्माओं में और पापियों में भी समान भाव वाला है वह अति श्रेष्ठ है। इसलिये उचित है कि जिसका मन और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है ऐसा वासना रहित और संग्रह रहित योगी अकेला ही एकान्त स्थान में स्थित हुआ निरन्तर आत्मा को परमेश्वर के ध्यान में लगावे । शुद्ध भूमि में कुशा, मृगछाला और वस्त्र हैं ऊपरोपरि जिसके ऐसे अपने आसन को न अति ऊँचा और न अति नीचा स्थिर स्थापन करके ।

[भाष्य : ६-११]

और उस आसन पर बैठकर तथा मन को एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में किया हुआ अन्तःकरण की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करे। उसकी विधि इस प्रकार है कि काया, शिर और ग्रीवा को समान और अचल धारण किये हुए दृढ़ होकर अपने नासिका के अग्रभाग को देख कर अन्य दिशाओं को न देखता हुआ। और ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित रहता हुआ भय रहित तथा अच्छी तरह शान्त अन्तःकरण वाला और सावधान होकर मन को वश में करके मेरे में लगे हुए चित्त वाला और मेरे परायण हुआ स्थित होवे। इस प्रकार आत्मा को निरन्तर परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ स्वाधीन मन वाला योगी मेरे में स्थिति रूप परमानन्द पराकाष्ठा वाली शान्ति को प्राप्त होता है। परन्तु हे अर्जुन, यह योग न तो बहुत खानेवाले का सिद्ध होता है और न बिलकुल न खानेवाले का तथा न अति शयन करने के स्वभाव वाले का और न अत्यन्त जागने वाले का ही सिद्ध होता है। यह दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथा योग्य आहार और विहार करने वाले का तथा यथा योग्य चेष्टा करने वाले का और यथा योग्य शयन करने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार योग के अभ्यास से अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त जिस काल में परमात्मा में ही अच्छी तरह स्थित हो जाता है उस काल में संम्पूर्ण कामनाओं से स्पृहा रहित हुआ पुरुष योगयुक्त ऐसा कहा जाता है।

[भाष्य : १२–१८]

और जिस प्रकार वायु रहित स्थान में स्थित दीपक नहीं चलायमान होता है वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की कही गई है। और हे अर्जुन, जिस अवस्था में योग के अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त उपराम हो जाता है और जिस अवस्था में परमेश्वर के ध्यान से शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धि द्वारा परमात्मा को साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्द घन परमात्मा में ही संतुष्ट होता है। तथा इन्द्रियों से अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है और जिस अवस्था में स्थित हुआ यह योगी तत्त्वतः नहीं चलायमान होता है। और परमेश्वर की प्राप्तिरूप जिस लाभ को प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता है, और भगवत् प्राप्ति रूप जिस अवस्था में स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःख से भी चलायमान नहीं होता है।

और जो दुःखरूप संसार के संयोग से रहित है तथा जिसका नाम योग है उसको जानना चाहिये वह योग न उकताये हुए चित्त से अर्थात् तत्पर हुए चित्त से निश्चय पूर्वक करना कर्तव्य है। इसलिये मनुष्य को चाहिए कि संकल्प से उत्पन्न होने वाली संपूर्ण कामनाओं को निःशेषता से अर्थात् वासना और आसक्ति सहित त्यागकर और मन के द्वारा इन्द्रियों के समुदाय को सब ओर से अच्छी तरह वश में करके।

[भाष्य : १९-२४]

क्रम क्रम से अभ्यास करता हुआ उपरामता को प्राप्त होवे, तथा धैर्य युक्त बुद्धि द्वारा मनको परमात्मा में स्थित करके परमात्मा के सिवाय और कुछ भी चिन्तन न करे । परन्तु जिसका मन वश में नहीं हुआ हो उसको चाहिये कि यह स्थिर न रहने वाला और चञ्चल मन जिस जिस कारण से सांसारिक पदार्थों में विचरता है उसे उससे रोककर बारम्बार परमात्मा में ही निरोध करे। क्योंकि जिसका मन अच्छी तरह शान्त है और जो पाप से रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के साथ एकीभाव हुए योगी को अति उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। और वह पाप रहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्मा को परामात्मा में लगाता हुआ सुख पूर्वक परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति रूप आनन्द का अनुभव करता है।

और हे अर्जुन, सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकी भाव से स्थिति रूप योग से युक्त हुए आत्मा वाला तथा सब में समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को संपूर्ण भूतों में बर्फ में जल के सदृश व्यापक देखता है और संपूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है। अर्थात् जैसे स्वप्न से जगा हुआ पुरुष स्वप्न के संसार को अपने अन्तर्गत संकल्प के आधार देखता है वैसे ही वह पुरुष संपूर्ण भूतों को सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्मा के अन्तर्गत संकल्प के आधार देखता है ।

[भाष्य : २५–२९]

और जो पुरुष संपूर्ण भूतों में सबके आत्म रूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है और संपूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूं और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है क्योंकि वह मेरे में एकीभाव से स्थित है इस प्रकार जो एकीभाव से स्थित संपूर्ण भूतों में आत्मरूप से स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव को भजता है वह योगी सब प्रकार से वर्तता हुआ भी मेरे में बर्तता है क्योंकि उसके अनुभव में मेरे सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं। हे अर्जुन, जो योगी अपनी सदृश्यता से संपूर्ण भूतों में सम देखता है और सुख अथवा दुःख को भी सब में सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

इस प्रकार भगवान के वाक्यों को सुनकर अर्जुन बोला—हे मधुसूदन, जो यह ध्यान योग आपने समत्वभाव से कहा है इसकी मैं मनके चञ्चल होने से बहुत काल तक ठहरने वाली स्थिति को नहीं देखता हूँ। क्योंकि हे कृष्ण, यह मन बड़ा चञ्चल प्रमथन स्वभाव वाला है तथा बड़ा दृढ़ और बलवान है। इसलिये उसको वश में करना मैं वायु की भांति अति दुष्कर मानता हूं। इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर श्री कृष्ण भगवान बोले-हे महाबाहो, निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनता से वश में होने वाला है परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, अभ्यास अर्थात् स्थिति के लिये बारम्बार यत्न करने से और वैराग्य से वश में होता है। इसलिये इसको अवश्य वश में करना चाहिये।

[भाष्य : ३०–३५]

क्योंकि मन को वश में न करने वाले पुरुषों द्वारा योग दुष्प्राप्य है अर्थात् प्राप्त होना कठिन है और स्वधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा साधन करने से प्राप्त होना सहज है यह मेरा मत है। इस पर अर्जुन बोला-हे कृष्ण, योग से चलायमान हो गया है मन जिसका ऐसा शिथिल यत्नवाला श्रद्धायुक्त पुरुष योग की सिद्धि को अर्थात् भगवत् साक्षात्कारता को न प्राप्त होकर किस गति को प्राप्त होता है।

हे महावाहो, क्या वह भगवत्प्राप्ति के मार्ग में मोहित हुआ आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादल की भाँति दोनों ओर से अर्थात् भगवत् प्राप्ति और सांसारिक भोगों से भ्रष्ट हुआ नष्ट तो नहीं हो जाता है ? हे कृष्ण, मेरे इस संशय को सम्पूर्णता से छदेन करने के लिये आप ही योग्य हैं क्योंकि आपके सिवाय दूसरा इस संशय का छेदन करने वाला मिलना संभव नहीं है। इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर श्री कृष्ण भगवान बोले— हे पार्थ, उस पुरुष का न तो इस लोक में और न परलोक में ही नाश होता है क्योंकि हे प्यारे, कोई भी शुभ कर्म करने वाला अर्थात् भागवत् अर्थ कर्म करने वाला दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है। किन्तु वह योगभ्रष्ट पुरूष पुण्यवानों के लोकों को अर्थात् स्वर्गादिक उत्तम लोकों को प्राप्त होकर उनमें बहुत बर्षों तक वास करके शुद्ध आचरण वाले श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है।

[भाष्य : ३६–४१]

अथवा ज्ञानवान योगियों के ही कुल में जन्म लेता है, परन्तु इस प्रकार का जो यह जन्म है सो संसार में निःसन्देह अति दुर्लभ है। और वह पुरुष वहाँ पहिले शरीर में साधन किये हुये बुद्धि के संयोग को अर्थात् समत्व बुद्धि योग के संस्कारों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन, उसके प्रभाव से फिर अच्छी तरह भगवत्प्राप्ति के निमित्त यत्न करता है। और वह विषयों के वश में हुआ भी उस पहिले के अभ्यास से ही निःसन्देह भगवत् की ओर आकर्षित किया जाता है, तथा समत्व बुद्धि रूप योग का जिज्ञासु भी वेद में कहे हुए सकाम कर्मों के फल को उल्लंघन कर जाता है। इस प्रकार मन्द प्रयत्न करने वाला योगी भी परमगति को प्राप्त हो जाता है, अनेक जन्मों से अन्तःकरण की शुद्धिरूप सिद्धि को प्राप्त हुआ और अति प्रयत्न से अभ्यास करने वाला योगी सम्पूर्ण पापों से अच्छी तरह शुद्ध होकर उस साधन के प्रभाव से परम गति को प्राप्त होता है अर्थात् परमात्मा को प्राप्त होता है। क्योंकि योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है और शास्त्र के ज्ञान वालों से भी श्रेष्ठ माना गया है तथा सकाम कर्म करने वालो से भी योगी, श्रेष्ठ है। इससे हे अर्जुन, तू योगी हो। और हे प्यारे सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान योगी मेरे में लगे हुए अन्तर आत्मा से मेरे को निरन्तर भजता है वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

[भाष्य : ४२-४७]

॥ इति आत्मसंयम योगो नाम षष्टोऽध्यायः ॥

—:०:—

षष्ठ अध्याय : व्यवहार दर्शन

इस अध्याय में अर्जुन के मन में विषाद होता है कि "जिनके लिये सुख चाहिये वे लड़ने-मरने के लिए खड़े हैं" वास्तविक सुख क्या है इसका वर्णन करते हुये भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि उसे प्राप्त करने के लिये आत्म संयम सिखना चाहिये। इसे जानने के लिये कर्मफल की आसक्ति छोड़ कर कर्त्तव्य-कर्म का पालन करना चाहिये जिससे धीरे-धीरे सभी संकल्पों का त्याग हो जायेगा। सिर्फ संन्यास लेकर अग्नि और कर्मों का त्याग करने से आत्म-संयम (योग) सिद्ध नहीं होगा। इसे प्राप्त करने के लिये इन्द्रियों द्वारा भोगे गये भोगों में जो आसक्ति होती है अथवा उन भोगों का चिन्तन करता है तथा वैसे कर्म करने के लिये प्रवृत्ति चलायमान होती है, इसका सर्वथा त्याग कर, जो जीवन में वर्तता है ऐसे साधक को योगारूढ़ कहते हैं अर्थात् वह योग मार्ग में अग्रसर हो रहा है। जिस व्यक्ति के द्वारा मन सहित इन्द्रियाँ जीत ली गइ हैं उसका जीवात्मा मित्र और जिसके द्वारा नहीं जीती गई हैं उसका शत्रु हो जाता है। मन सहित इन्द्रियों को जीतने वाले व्यक्ति के सब विकार नष्ट हो जाते हैं। अन्तःकरण पवित्र रहता है ऐसे शुद्ध अन्तःकरण द्वारा सच्चिदानन्दघन परमात्मा में सम्यक् प्रकार से स्थित रहता है अर्थात् ब्रह्मानन्द की अनुभूति करता है। 'योग साधन के लिये

साधक पहले अन्तःकरण को वासना रहित करने का अभ्यास करे तदुपरान्त एकान्त अर्थात् अन्तःकरण में भिन्न विचारों को सर्वथा रोक कर तथा बाहर में भी अकेला एकान्त में शुद्ध भूमि में संभव हो तो मृगछाला और वस्त्र के आसन को लगा कर बैठे। ध्यान रखे कि आसन सम स्थान पर हो। उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र कर अर्थात् मन के आगे सिर्फ परमात्मा को रखे या अपने इष्ट को रखे। उस काल में इन्द्रियों की सारी क्रिया को वश में रखे, उनको चलायमान न होने दे। काया, शिर और ग्रीवा को समान और अचल रख कर भृकुटी मध्य में अन्य दिशाओं को न देखता हुआ भय रहित, अपने इष्ट का चिन्तन, ध्यान करे। इस प्रकार आत्मा के साधन काल में निरन्तर परमेश्वर के रूप में स्थित होने का अभ्यास करे। इससे वह साधक ब्रह्मचारी परमानन्द पराकाष्ठा वाली शान्ति को प्राप्त हो जायेगा। इसके साधक को यथ योग्य आहार, विहार, चेष्टा, एव सोना और जागना का पूरा ख्याल रखना चाहिये। यथायोग्य से यहाँ मतलब शरीर के स्वास्थ्य के अनुकूल व्यवहार (स्वाद और विलास को-छोड़कर) करना चाहिये। इस प्रकार योग के अभ्यास से जिस काल में चित्त भली-भांति स्थित हो जाता है उस काल में संपूर्ण कामनाओं से स्पृहा रहित हुआ साधक योग युक्त कहा जाता है एवं अपने लक्ष को प्राप्त करता है। योग सिद्धि के लिये पूर्ण धैर्य को धारण कर तत्पर हुये चित्त से वैराग्य और अभ्यास से मन की चंचलता को रोक कर आत्म चिन्तन करता रहे। इससे बुद्धि अति सूक्ष्म इन्द्रियातीत विषय को पकड़ने योग्य

हो जायेगी एवं इस बुद्धि द्वारा वह पुरुष अनन्त आनन्द का अनुभव कर सकता है । इसके लिये मन का निरोध होना आवश्यक है । मन निरोध करने के लिये एक-एक विषय में वासना का क्रम-क्रम से त्याग कर उपरामता को प्राप्त करे । योग साधन काल में बिना उकताये हुये चित्त से कार्रवाई करता रहे । इस साधन मार्ग से वह परमानन्द का अनुभव अन्तःकरण में करेगा, यदि साधक योग साधन करते करते पूर्णता को प्राप्त करने के पहले शरीर छोड़ देवे तो भी उसका किया हुआ परिश्रम वृथा नहीं जाता है। वह श्रीमान् अथवा किसी ज्ञानी के घर में जन्म लेता है एवं जहां तक परिश्रम कर चुका है उसके आगे परिश्रम कर सफलता को प्राप्त होता है । उसका परिश्रम नष्ट नहीं होता । उसे योग भ्रष्ट कहते हैं । ऐसा व्यक्ति नये जन्म में पूर्व संचित कर्म के अभ्यास को स्वतः प्राप्त हो जाता है एवं जिसके आगे अभ्यास कर सकाम मनोरथों से उपराम हो कर अपने लक्ष्य ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर लेता है, एवं संसृति अर्थात् संसार के आवागमन से सर्वथा मुक्त हो जाता है ।

॥ इति व्यवहार दर्शन : षष्ठ अध्यायः ॥

—:०:—

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्ध भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्तेनराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो
नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

—:o:—

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

अथ सप्तम अध्याय : भाष्य

श्री कृष्ण भगवान बोले—हे पार्थ, तू मेरे में अनन्य प्रेम से आसक्त हुए मन वाला और अनन्य भाव से मेरे परायण योग में लगा हुआ मुझको संपूर्ण विभूति बल से ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त सबका आत्म रूप जिस प्रकार संशय रहित जानेगा उसको सुन। मैं तेरे लिये इस रहस्य सहित तत्त्वज्ञान को सम्पूर्णता से कहूँगा कि जिसको जानकर संसार में फिर और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहता है। परन्तु हजारों मनुष्यों में कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्ति के लिये यत्न करता है और उन यत्न करने वाले योगियों में भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मेरे को तत्त्व से जानता है अर्थात् यथार्थ मर्म से जानता है। और हे अर्जुन, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार ऐसे ये आठ प्रकार से विभक्त हुई मेरी प्रकृति है। सो ये आठ प्रकार के भेदों वाली तो अपरा है अर्थात् मेरी जड़ प्रकृति है और हे महाबाहो, इससे दूसरी को मेरी जीवरूप परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान कि जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है। और हे अर्जुन, तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पत्तिवाले हैं और मैं सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति तथा प्रलयरूप हूं। अर्थात् सम्पूर्ण जगत का मूल कारण हूँ!

[भाष्य : १–६]

इसलिये हे धनंजय, मेरे सिवाय किंचित्‌मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र में मणियों के सदृश मेरे में गुथा हुआ है ।

हे अर्जुन, जल में मैं रस हूँ तथा चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ और सम्पूर्ण वेदों में ओंकार हूँ तथा आकाश में शब्द ओर पुरुषों में पुरुषत्व हूं । तथा पृथ्वी में पवित्र गन्ध और अग्नि में तेज हूं और सम्पूर्ण भूतों में उनका जीवन हूँ अर्थात् जिससे वे जीते हैं वह मैं हूँ और तपस्वियों में तप हूँ। हे अर्जुन, तू सम्पूर्ण भूतों का सनातन कारण मेरे को ही जान। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तपस्वियों का तेज हूँ। और हे भरतश्रेष्ठ, मैं बलवानों का आसक्ति और कामनाओं से रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ और सब भूतों में धर्म के अनुकूल अर्थात् शास्त्र के अनुकूल काम हूं । तथा और भी जो सत्वगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं और जो रजोगुण से तथा तमोगुण से होने वाले भाव हैं उन सबको तू मेरे से ही होनेवाले हैं ऐसा जान परन्तु वास्तव में उनमें मैं और वे मेरे में नहीं हैं। किन्तु गुणों के कार्यरूप सात्विक, राजस और तामस इन तीनों प्रकार के भावों से यह सब संसार मोहित हो रहा है इसलिये तीनों गुणों से परे मुझ अविनाशी को तत्त्व से नहीं जानता ।

[भाष्य : ७–१३]

क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है परन्तु जो पुरुष मेरे को ही निरन्तर भजते हैं वे इस माया को उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसार से तर जाते हैं। ऐसा सुगम उपाय होने पर भी माया द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले और आसुरी स्वभाव को धारण किये हुये तथा मनुष्यों में नीच और दूषित कर्म करने वाले मूढ़लोक तो मेरे को नहीं भजते हैं।

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन, उत्तम कर्म वाले अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् निष्कामी ऐसे चार प्रकार के भक्तजन मेरे को भजते हैं। उनमें भी नित्य मेरे में एकीभाव से स्थित हुआ आनन्द प्रेम भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्ताम है, क्योंकि मेरे को तत्त्व से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मेरे को अत्यन्त प्रिय है। यद्यपि यह सब ही उदार है अर्थात् श्रद्धासहित मेरे भजन के लिये समय लगाने वाला होने से उत्ताम है परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है ऐसा मेरा मत है, क्योंकि वह स्थिरबुद्धि ज्ञानी भक्त अति उत्तम गति स्वरूप मेरे में ही अच्छी तरह स्थित है। और जो बहुत जन्मों के अन्त के जन्म में तत्त्व ज्ञान को प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है इस प्रकार मेरे को भजता है वह महात्मा अति दुर्लभ है।

[भाष्य : १४-१९]

और हे अर्जुन, जो विषयासक्त पुरुष हैं वे तो अपने स्वभाव से प्रेरे हुए तथा उनउन भोगों की कामना द्वारा ज्ञान से भ्रष्ट हुए उस उस नियम को धारण करके अन्य देवताओं को भजते हैं—अर्थात् पूजते हैं । जो जो सकामी भक्त जिस जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है उस उस भक्त को मैं उस ही देवता के प्रति श्रद्धा को स्थिर करता हूं। तथा वह उस पुरुष श्रद्धा से युक्त हुआ उस देवता के पूजन की चेष्टा करता है और उस देवता से मेरे द्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगों को निःसन्देह प्राप्त होता है ।

ऐसा होने पर भी सब मनुष्य मेरा भजन नहीं करते इसका कारण यह है कि बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अर्थात् जिससे उत्तम और कुछ भी नहीं ऐसे अविनाशी परम भाव को तत्त्व से न जानते हुए, मन इन्द्रियों से परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा को मनुष्य की भाँति जनम कर व्यक्ति भाव को प्राप्त हुआ मानते हैं । तथा अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसलिये यह अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्म रहित अविनाशी परमात्मा को तत्त्व से नहीं जानता है । और हे अर्जुन, पूर्व में व्यतीत हुए और वर्तमान में स्थित तथा आगे होने वाले सब भूतों को मैं जानता हूं परन्तु मेरे को कोई भी श्रद्धा भक्ति रहित पुरुष नहीं जानता है ।

[भाष्य : २०–२६]

हे भरतवंशी अर्जुन, संसार में इच्छा और द्वेष से उत्पन्न हुए सुखदुःखादि द्वन्द्व रूप मोह से सम्पूर्ण प्राणी अति अज्ञानता को प्राप्त हो रहे हैं। परन्तु निष्काम भाव से श्रेष्ठ कर्मों का आचरण करने वाले जिन पुरुषों का पाप नष्ट हो गया है वे राग द्वेषादि द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त हुए और दृढ़ निश्चयवाले पुरुष मेरे को सब प्रकार से भजते हैं। और जो मेरे शरण होकर जरा और मरण से छूटने के लिये यत्न करते हैं वे पुरुष उस ब्रह्म को तथा सम्पूर्ण अध्यात्म को और सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं। जो पुरुष अधिभूत और अधिदेव के सहित तथा अधियज्ञ के सहित सबका आत्मरूप मेरे को जानते हैं वे युक्त चित्त वाले पुरुष अन्तकाल में भी मुझको ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।

[भाष्य : २७–३१]

॥ इति ज्ञान-विज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

—:०:—

सप्तम अध्याय : व्यवहार दर्शन

इस अध्याय में श्री कृष्ण परमात्मा अर्जुन को विज्ञान अर्थात् सृष्टि निर्माण एवं उसके ऐश्वर्य का ज्ञान कराते हुये कहते हैं कि मेरी परा और अपरा, परा अर्थात् चेतन तत्त्व और अपरा अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और मन, बुद्धि, अहं ये आठ प्रकृतियों द्वारा इस विश्व का निर्माण हुआ। अपरा प्रकृति द्वारा जड़ भाग-स्थूल तत्त्व जो इन्द्रियों की पकड़ में आ सकते हैं और परा प्रकृति से चेतन भाग सूक्ष्म तत्त्व जो इन्द्रिय शक्ति की पकड़ के बाहर है दोनों के द्वारा यह रचना हुई। सूर्य चन्द्र में प्रकाश, पृथ्वी में गन्ध, जल में रस, अग्नि में रूप, वायु में स्पर्श, आकाश में शब्द और सम्पूर्ण भूत-प्राणियों का जीवन मैं हूं। सब सृष्टि का मूल करण मैं हूं और इन तीन गुणों के भाव सत्व, राजस, और तामस सब मेरे द्वारा ही हैं मेरे से भिन्न कुछ भी नही है, परन्तु वास्तव में वे मेरे में न मैं उनमें हूं। यहाँ इस 'वास्तव' शब्द से तात्पपर्य व्यवहार जगत से है क्योंकि सारी शक्ति एक अद्वैत चेतन की है परन्तु कर्म और व्यवहार करने में भूत-प्राणी स्वतन्त्र हैं और अपने द्वारा किये हुये कर्मो के परिणाम स्वरूप भिन्न-भिन्न भोगों को भोगते हैं। इसलिये वास्तव शब्द से बोध कराया गया कि न इनमें मैं न ये मेरे में हैं, परन्तु यह सारा पसारा मेरी विभूति है। इस जगत में चार प्रकार के मेरे उपासक होते हैं—कष्ट पड़ने पर उपासना करने वालो को "आर्त्त", मनोरथ पूरा कराने वाले को "अर्थार्थी", जगत् और जगत्

के मूल कारण को जानने की इच्छा रखने वाले "जिज्ञासु", और "ज्ञानी" जिसने इस तथ्य को भली-भाँति जान लिया, जिनका संसार में निष्काम भाव से रहना ही उदेश्य है ऐसा "ज्ञानी" भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है, और वह वास्तविक तथ्य को जानने वाला है। और जो सकामी भक्त विषयासक्त कामना के वशीभूत होकर देवताओं को पूजते हैं उनकी भी निष्ठा मैं उन देवताओं में करवा कर उनके मनोरथों को पूरा करता हूँ। मैं अपनी योगमाया से छिपा हुआ सब के सामने प्रकट नहीं होता, इसलिये मुझ अविनाशी को लोग तत्त्व से नहीं जानते। हे अर्जुन, संसार में इच्छा और द्वेष से उत्पन्न सुख और दुःख में सारा जगत् मोहित हो रहा है। इसलिये मुझ सर्वव्यापक परमात्मा को अति सन्निकट होने पर भी नहीं जान पाते, सिर्फ कामना विमुक्त पुरुष ही मुझे जानने का प्रयास करते हैं एवं संसार का सबसे बड़ा जो भयानक रोग संसृति अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर से छूट कर मेरे में लय हो जाते हैं। इस विभूति योग में श्री कृष्ण परमात्मा ने सर्वश्रेष्ठ ज्ञान द्वारा इस जगत् का वर्णन करते हुये सच्चिदानन्दघन परमात्मा को सरलता से प्राप्त करने का मार्ग बताया। इस योग को भली-भाँति समझकर थोड़े परिश्रम से मनुष्य संसार बन्धन से छूट सकता है। इस विभूति योग को समझने के लिये निरन्तर अनासक्त योग का अभ्यास करना चाहिये।

॥ इति सप्तम अध्याय : व्यवहार दर्शन ॥

—:०:—

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥
अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तोयोगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति ।
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

यत्र कालेत्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥
अग्निर्ज्योतिरहःशुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥
नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो
नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

—:०:—

* श्री परमात्मने नमः *

अष्टम अध्याय : भाष्य

अर्जुन ने कहा—हे पुरुषोत्तम, जिसका आपने वर्णन किया वह ब्रह्म क्या है और अध्यात्म क्या है, तथा कर्म क्या है, और अधिभूत नाम से क्या कहा गया है तथा अधिदेव क्या कहा जाता है। और हे मधुसूदन, यहाँ अधियज्ञ कौन है, और वह इस शरीर में कैसे है और युक्त चित्त वाले पुरुषों द्वारा अन्त समय में आप किस प्रकार जानने में आते हैं। श्री भगवान ने इस प्रकार अर्जुन के प्रश्न करने पर कहा-परम अक्षर अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं हो ऐसा सच्चिदानन्दघन परमात्मा तो ब्रह्म है और अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा अध्यात्म नाम से कहा जाता है, तथा भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला शास्त्र विहित यज्ञ, दान और होम आदि के निमित्त जो द्रव्यादि का त्याग है वह कर्म नाम से कहा गया है। तथा उत्पत्ति, विनाश धर्मवाले सब पदार्थ अधिभूत हैं और हिरण्यमय पुरुष अधिदेव है और हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन, इस शरीर में मैं वासुदेव ही विष्णुरूप से अधियज्ञ हूं। और जो पुरुष अन्त काल में मेरे को ही स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग कर जाता है वह **मेरे साक्षात् स्वरूप** को प्राप्त होता है इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

[भाष्य : १–५]

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, यह मनुष्य अन्त काल में जिस-जिस भाव का स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है उस-उस को ही प्राप्त होता है क्योंकि सदा जिस भाव का चिन्तन करता है अन्तःकाल में भी प्रायः उसका स्मरण होता है ।

इसलिये हे अर्जुन, तू सब समय में निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मेरे में अर्पण किये हुए मन-बुद्धि से युक्त हुआ निःसन्देह मेरे को ही प्राप्त होगा । हे पार्थ, यह नियम है कि परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास रूप योग से युक्त अन्य तरफ न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष परम प्रकाश स्वरूप दिव्य पुरुष को अर्थात् प्ररमेश्वर को ही प्राप्त होता है। इससे जो पुरुष सर्वज्ञ अनादि सबके नियन्ता सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म सबके धारण-पोषण करने वाले अचिन्त्यस्वरूप सूर्य के सदृश नित्य चेतन प्रकाश रूप अविद्या से अति परे शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा को स्मरण करता है वह भक्ति युक्त पुरुष अन्त काल में भी योगबल से भृकुटी के मध्य में प्राण को अच्छी तरह स्थापन करके फिर निश्चय मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्य स्वरूप परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है । हे अर्जुन, वेद के जानने वाले विद्वान जिस सच्चिदानन्दघन रूप परम पद को ओंकार नाम से कहते हैं और आसक्ति रहित यत्नशील महात्माजन जिस में प्रवेश करते हैं जिस परमपद को चाहने वाले ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं उस परमपद को तेरे लिये संक्षेप में कहूँगा ।

[भाष्य : ६–११]

हे अर्जुन, सब इन्द्रियों के द्वारों को रोक कर अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से हटाकर तथा मन को हृद्देश में स्थिर करके और अपने प्राण को मस्तक में स्थापन करके योग धारण में स्थित हुआ जो पुरुष ॐ ऐसे इस एक अक्षर रूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ मेरे को चिन्तन करता हुआ शरीर को त्यागकर जाता है वह पुरुष परम गति को प्राप्त होता है।

हे अर्जुन, जो पुरुष मेरे में अनन्य चित्त से स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मेरे को स्मरण करता है उस निरन्तर मेरे में युक्त हुए योगी के लिये मैं सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ। और वे परम सिद्धि को प्राप्त हुए महात्माजन मेरे को प्राप्त होकर दुःख के स्थान रूप क्षणभंगुर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते हैं। क्योंकि हे अर्जुन, ब्रह्मलोक से लेकर सब लोक पुनरावृत्ति स्वभाव वाले हैं, क्योंकि हे कुन्तीपुत्र, मेरे को प्राप्त होकर उसका पुनर्जन्म नहीं होता है क्योंकि मैं कालातीत हूं और यह सब ब्रह्मादिकों के लोक काल करके अवधिवाले होने से अनित्य हैं। हे अर्जुन, ब्रह्मा का जो एक दिन है उसको हजार चौकड़ी युग तक अवधि वाला और रात्रि को भी हजार चौकड़ी युग तक अवधिवाला जो पुरुष तत्त्व से जानते हैं वे योगीजन काल के तत्त्व को जाननेवाले हैं। इसलिये वे यह भी जानते हैं कि संपूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्मा के दिन के प्रवेशकाल में अव्यक्त से अर्थात् ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि के प्रवेश काल में उस अव्यक्त नामक ब्रह्म के सूक्ष्म शरीर में ही लय होते हैं।

[भाष्य १२-१८]

वह ही यह भूत समुदाय उत्पन्न हो होकर प्रकृति के वश में हुआ रात्रि के प्रवेश काल में लय होता है और दिन के प्रवेशकाल में फिर उत्पन्न होता है। हे अर्जुन, इस प्रकार ब्रह्मा के एक सौ वर्ष पूर्ण होने से अपने लोक सहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है। परन्तु उस अव्यक्त से भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्त भाव है वह सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है।

और जो वह अव्यक्त अक्षर ऐसे कहा गया है, उस ही अक्षर नामक अव्यक्त भाव को परमगति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्त भाव को प्राप्त होकर मनुष्य पीछे नहीं आते हैं वह मेरा परमधाम है। और हे पार्थ, जिस परमात्मा के अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मा से यह सब जगत परिपूर्ण है वह सनातन अव्यक्त पुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होने योग्य है। और हे अर्जुन; जिस काल में शरीर त्याग कर गये हुए योगीजन पीछा न आनेवाली गति को और पीछा आनेवाली गति को भी प्राप्त होते हैं, उस काल को अर्थात् मार्ग को कहूँगा। उन दो प्रकार के मार्गों में जिस मार्ग में ज्योतिर्मय अग्नि अभिमानी देवता है और दिन का अभिमानी देवता है तथा शुक्लपक्ष का अभिमानी देवता है और उत्तरायण के छः महीनों का अभिमानी देवता है उस मार्ग में मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता योगीजन उपरोक्त देवताओं द्वारा क्रमशः ले गये हुए ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

[भाष्य : १९–२४]

तथा जिस मार्ग में धूमाभिमानी देवता है और रात्रि अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्ष का अभिमानी देवता है और दक्षिणायन के छः महीनों का अभिमानी देवता है उस मार्ग में मरकर गया हुआ सकाम कर्मयोगी उपरोक्त देवताओं द्वारा क्रम से ले गया हुआ चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर स्वर्ग में अपने शुभकर्मों का फलभोग कर पीछा आता है। क्योंकि जगत् के यह दो प्रकार के शुल्क और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये हैं। इनमें एक के द्वारा गया हुआ पीछा न आनेवाली परमगति को प्राप्त होता है और दूसरे द्वारा गया हुआ पीछा आता है अर्थात् जन्म मृत्यु को प्राप्त होता है।

हे पार्थ, इस प्रकार इन दोनों मार्गों को तत्त्व से जानता हुआ कोई भी योगी मोहित नहीं होता है। इस कारण सब काल में समत्व बुद्धि रूप योग से युक्त हो अर्थात् निरन्तर मेरी प्राप्ति के लिये साधन करनेवाला हो। क्योंकि योगी पुरुष इस रहस्य को तत्त्व से जानकर वेदों के पढ़ने में तथा यज्ञ, तप और दानादिकों के करने में जो पुण्य फल कहा है उन सब को निःसन्देह उल्लंघन कर जाता है और सनातन परम पद को प्राप्त होता है।

[भाष्य : २५–२८]

॥ इति अक्षर ब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥

—:०:—

अष्टम अध्याय : व्यवहार दर्शन

इस अध्याय में श्री कृष्ण परमात्मा अर्जुन के विषाद को दूर करने के लिये सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया बताने के बाद कुछ विशेष तत्त्वों का बोध कराते हैं जिनको जानकर इस जड़ शरीर से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों में जो ममत्व हुआ है वह दूर हो जाय। जिसका कभी नाश नहीं होता वह अक्षर ब्रह्म है, शरीर में बद्ध' ब्रह्म जीवात्मा, जिसे अध्यात्म नाम से कहा गया है जब शरीर बंन्धन से मुक्त हो जाय तो वह ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है और शरीर धारियों में उसका ममत्व लोप हो जाता है एवं वह अपने शास्त्र विहीत कर्म को कर्त्तव्य समझ्कर निःसंकोच पालन करता है। उत्पत्ति, विनाश धर्म वाले सब पदार्थ अधिभूत कहे जाते हैं। यज्ञ, दान, होम आदि परमार्थ सेवा में पदार्थों का त्याग करना, जिसे कर्म कहते हैं, करके अधिदेव अर्थात् हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) का ज्ञान प्राप्त कर सकता है एवं उस ज्ञान से वह अपने शरीर में स्थित वासुदेव, जिसे अधियज्ञ कहते हैं, जो कि चेतन शक्ति चेतन प्रकाश है उसे भलीभाँति जान कर स्मरण करने लगता है एवं यह स्मरण अन्तःकाल में याद रहने से वह मुझे ही प्राप्त हो कर परम तत्त्व में लय हो जाता है, अर्थात् पुर्नजन्म नहीं होता और संसृति रोग से मुक्त हो जाता है।

जो मनुष्य अविनाशी तत्त्व का नित्य स्मरण रखता है जो कि अति सूक्ष्म नित्य चेतन प्रकाश रूप है वह भक्तियुक्त पुरुष अन्त

काल में भी भृकुटि मध्य में प्राणों को स्थापन करके एकाग्र मन से स्मरण करता हुआ परमात्मा को ही प्राप्त करता है।

इस प्रकार भगवत् प्राप्ति के लिये साधन करने वाला यदि शुक्ल (देवयान) मार्ग से चोला छोड़ कर जब सूक्ष्म शरीर से यात्रा करता है जिस मार्ग में कि ज्योतिर्मय अभिमानी देवता, दिन का अभिमानी देवत्ता, शुक्ल पक्ष का अभिमानी देवता तथा उत्तरायण छः महीने का अभिमानी देवता हैं तो उन्हें पुनरावृत्ति नहीं प्राप्त होती है और जो कृष्ण (पितृयान) मार्ग से जाता है जिस मार्ग से धूम अभिमानी, रात्रि अभिमानी, कृष्ण पक्ष का अभिमानी तथा दक्षिणायन के छः महीनों का अभिमानी देवता है तो उन्हें स्वर्ग में अपने शुभ कर्मों को भोग कर संसार में आना पड़ता है। इसलिये इन सब को तत्त्व से समझ कर अपने कर्त्तव्य कर्म को भलिभाँति समत्व बुद्धि रूप योग से युक्त होकर इस अविनाशी तत्त्व को प्राप्त करने के लिये साधन करना चाहिये जिससे कि संसार बन्धन से मुक्त होकर अक्षर ब्रह्म अर्थात् परमानन्द को प्राप्त हो जावे।

॥ इति अष्टम अध्याय : व्यवहार दर्शन ॥

—:o:—

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥
यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्य-
योगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

—:०:—

* ॐ श्री परमात्मने नमः *

नवम अध्याय : भाष्य

श्री कृष्ण भगवान बोले हे—अर्जुन, तुझ दोष दृष्टि रहित भक्त के लिये इस परम गोपनीय ज्ञान को रहस्य के सहित कहूंगा जिसको जान कर तू दुःखरूप संसार से मुक्त हो जायेगा । वह ज्ञान सब विद्याओंका राजा तथा सब गोपनीयों का भी राजा एवं अति पवित्र, उत्तम प्रत्यक्ष फल वाला और धर्म युक्त है, साधन करने को बड़ा सुगम और अविनाशी है । और हे परंतप, इस तत्त्व ज्ञान रूप धर्म में श्रद्धारहित पुरुष मेरे को न प्राप्त होकर संसार चक्र में भ्रमण करते हैं ।

[भाष्य : १—३]

और हे अर्जुन, मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा से यह सब जगत परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्प के आधार स्थित हैं मैं उनमें स्थित नहीं हूँ । और वे सब भूत मेरे में स्थित नहीं हैं किन्तु मेरी योगमाया और प्रभाव को देख कि भूतों को धारण पोषण करने वाला और भूतों को उत्पन्न करनेवाला भी मेरी आत्मा भूतों में स्थित नहीं है ।

जैसे आकाश से उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरने वाला महान् वायु सदा ही आकाश में स्थित है वैसे ही मेरे संकल्प द्वारा उत्पत्तिवाले होने से सम्पूर्ण भूत मेरे में स्थित है ऐसा जान । हे अर्जुन, कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृति में लय होते हैं और कल्प के आदि में उनको मैं फिर रचता हूं । कैसे कि अपनी त्रिगुणमयी माया को अहंकार करके स्वभाव के वश में परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूत समुदाय को बारम्बार उनके कर्मों के अनुसार रचता हूं । हे अर्जुन उन कर्मों में आसक्ति रहित उदासीन के सदृश स्थित हुए मुझ परमात्मा को वे कर्म नहीं बांधते हैं । हे अर्जुन, मुझ अधिष्ठाता के सकाश से यह मेरी माया चराचर सहित सर्व जगत् को रचती है और इस ऊपर कहे हुए हेतु से ही यह संसार आवागमन रूप चक्र में घूमता है । ऐसा होने पर भी सम्पूर्ण भूतों के महान ईश्वर रूप मेरे परम भाव को न जानने वाले मूढ़लोग मनुष्य का शरीर धारण करने वाले मुझ परमात्मा को तुच्छ समझते हैं । अर्थात् अपनी योगमाया से संसार के उद्धार के लिये मनुष्य रूप में विचरते हुए को साधारण मनुष्य मानते हैं ।

[भाष्य : ४-११]

जो कि वृथा आशा, वृथा कार्य और वृथा ज्ञान वाले अज्ञानीजन राक्षसों के और असुरों के जैसे मोहित करने वाले (तामसी) स्वभाव को ही धारण किये हुए हैं।

परन्तु हे कुन्तीपुत्र, दैवी प्रकृति के आश्रित हुए जो महात्माजन हैं वे तो मेरे को सब भूतों का सनातन कारण और नाश रहित अक्षर स्वरूप जानकर अनन्य मन से युक्त हुए निरन्तर भजते हैं। और वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर नाम और गुणों का कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्ति के लिये यत्न करते हुए और मेरे को बारम्बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यान में युक्त हुए अनन्य भक्ति से मुझे उपासते हैं। उनमें कोई तो मुझ विराट् स्वरूप परमात्मा को ज्ञान यज्ञ के द्वारा पूजन करते हुए एकत्व भाव से अर्थात् जो कुछ है सब वासुदेव ही है इस भाव से उपासते हैं और दूसरे पृथक्त्व भाव से अर्थात् स्वामी सेवक भाव से और कोई कोई बहुत प्रकार से भी उपासते हैं। क्योंकि क्रतु अर्थात् श्रौत कर्म मैं हूं, यज्ञ अर्थात् पञ्च महायज्ञादिक स्मार्त कर्म मैं हूं, स्वधा अर्थात् पितरों के निमित्त दिया जानने वाला अन्न मैं हूँ औषधि अर्थात् सब वनस्पतियाँ मैं हूं एवं मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूं और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूं। और हे अर्जुन, मैं ही इस सम्पूर्ण जगत् का धाता अर्थात् धारण पोषण करने वाला एवं कर्मों के फल को देने वाला तथा पिता, माता और पितामह हूं और जानने योग्य पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूं।

[भाष्य : १२-१७]

और हे अर्जुन, प्राप्त होने योग्य तथा भरण-पोषण करनेवाला सबका स्वामी शुभाशुभ का देखने वाला सबका वास-स्थान और शरण लेने योग्य तथा प्रति उपकार न चाहकर हित करने-वाला और उत्पत्ति प्रलय रूप तथा सबका आधार निधान और अविनाशी कारण भी मैं हूं । और मैं ही सूर्य रूप हुआ तपता हूं तथा वर्षा को आकर्षण करता हूँ और बरसता हूँ और हे अर्जुन, मैं ही अमृत और मृत्यु एवं सत और असत् भी मैं ही हूं । परन्तु जो तीनों वेदों में विधान किये हुए सकाम कर्मों को करने वाले और सोमरस पीनेवाले एवं पापों से पवित्र हुए मेरे को यज्ञों के द्वारा पूजकर स्वर्ग की प्राप्ति को चाहते हैं वे पुरुष अपने पुण्य के फलस्वरूप इन्द्रलोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों के भोगते हैं। और वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्ग के साधनरूप तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म के शरण हुए और भोगों की कामनावाले पुरुष बारम्बार जाने-आने को प्राप्त होते हैं अर्थात् पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में जाते हैं और पुण्य क्षीण होने से मृत्युलोक में आते हैं । और जो अनन्य भावों से मेरे में स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वर का निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भाव से भजते हैं उन नित्य एकीभाव से मेरे स्थितिवाले पुरुषों का योगक्षेम मैं स्वयम् प्राप्त करा देता हूं।

और हे अर्जुन, यद्यपि श्रद्धा से युक्त हुए जो सकामी भक्त दूसरे देवताओं को पूजते हैं वे भी मेरे को ही पूजते हैं किन्तु उनका वह पूजना अविधि पूर्वक है अर्थात् अज्ञान पूर्वक है ।

[भाष्य : १८–२३]

क्योंकि संपूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ, परन्तु वे मुझ अधियज्ञ स्वरूप परमेश्वर को तत्त्व से नहीं जानते हैं, इसीसे गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं। कारण, यह नियम है कि देवताओं को पूजनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मेरे को ही प्राप्त होते हैं। इसलिये मेरे भक्तों का पुर्जन्म नहीं होता है। तथा हे अर्जुन, मेरे पूजने में यह सुगमता भी है कि पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेम से अर्पण करता है उस शुद्ध बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्त का प्रेम पूर्वक अर्पण किया हुआ यह पत्र पुष्पादिक मैं सगुणरूप से प्रकट होकर प्रीति सहित ग्रहण करता हूं। इसलिये हे अर्जुन, तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ स्वधर्माचरणरूप तप करता है, वह सब मेरे को अर्पण कर। इस प्रकार कर्मों को मेरे अर्पण करने रूप संन्यासयोग से युक्त हुए मन वाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धन से मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त हुआ मेरे को ही प्राप्त होवेगा।

यद्यपि मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परन्तु जो भक्त मेरे को प्रेम से भजते हैं वे मेरे में और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ। जैसे सूक्ष्मरूप से सब जगह व्यापक हुआ भी अग्नि साधनों द्वारा प्रकट करने से ही प्रत्यक्ष होता है वैसे ही सब जगह स्थित हुआ भी परमेश्वर भक्ति से भजनेवाले के ही अन्तःकरण में प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होता है।

[भाष्य : २४–२९]

तथा और भी मेरी भक्ति का प्रभाव सुन कि यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मेरा भक्त हुआ मेरे को निरन्तर भजता है वह साधु ही मानने योग्य है क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है अर्थात् उसने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर को भजने के समान अन्य कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है।

इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन, तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता। क्योंकि हे अर्जुन, स्त्री, वैश्य और शूद्रादिक तथा पापयोनि वाले भी जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर तो परमगति को ही प्राप्त होते हैं। पुनः क्या कहना है कि पुण्यशील ब्राह्मणजन तथा राजऋषि भक्तजन परमगति को प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य शरीर को प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर। केवल मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही अनन्य प्रेम से नित्य निरन्तर अचल मन वाला हो और मुझ परमेश्वर को ही श्रद्धाप्रेम सहित निष्काम भाव से निरन्तर भजनेवाला हो तथा मेरा मन, वाणी और शरीर के द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से पूजन करनेवाला और मुझ सर्वशक्तिमान विभूति, वल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गंभीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदयता आदि गुणों से सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेव को विनय भाव पूर्वक भक्ति सहित प्रणाम कर। इस प्रकार मेरे शरण हुआ तू आत्मा को मेरे में एकीभाव करके मेरे को ही प्राप्त होवेगा।

[भाष्य : ३०–३४]

[।। इति राजविद्याराजगुह्य योगो नाम नवमोऽध्यायः ॥

—:०:—

नवम अध्याय : व्यवहार दर्शन

इस अध्याय में श्रीकृष्ण परमात्मा ने परम गोपनीय तत्त्व का वर्णन अर्जुन के प्रति किया है। गोपनीय तत्त्व क्या है, इस रहस्य को समझाते हुए भगवान कहते हैं कि यह समस्त भूत प्राणी मेरे संकल्प के आधार पर स्थित हैं। वास्तव में मैं इनमें स्थित नहीं हूं, न मेरे में ये स्थित हैं ऐसा कहकर भगवान उस गोपनीय रहस्य की ओर संकेत कर रहे हैं कि सनातन-अव्यक्त अथवा शुद्ध निर्मल चेतन, और अव्यक्त अथवा माया उपहित चेतन, शुद्ध निर्मल चेतन के संकल्प जिसको माया उपहित चेतन कहा गया है, सर्वत्र व्यापक एवं सब भूत प्राणियों में स्थित हैं, एवं सब भूत प्राणी उसमें स्थित हैं, वह शुद्ध निर्मल चेतन (सनातन-अव्यक्त) जिसे श्रीकृष्ण परमात्मा "मैं" से सम्बोधन कर कहते हैं कि, न मैं किसी में न मेरे में कोई स्थित है। इसलिये जो देवताओं को उपासते हैं वे पुण्य के अनुसार स्वर्ग प्राप्त करते हैं, पुण्य क्षीण होने पर मृत्योलोक में आते हैं; पुनरावृत्ति को प्राप्त करते हैं। परन्तु मेरा भक्त मुझको ही प्राप्त होता है। यहाँ मेरे से मतलब निर्मल चेतन, सनातन-अव्यक्त से है, इस सनातन-अव्यक्त की उपासना को श्रेष्ठ बताया गया है।

इस सनातन अव्यक्त अथवा निर्मल चेतन की उपासना करने की विधि इस प्रकार है कि संसार के सब कर्म प्रभु को समर्पण

करके निष्काम भाव से करे, यानी कर्तव्य बुद्धि से सब कर्म करे। इनका खुलासा इस प्रकार है कि संसार के आवश्यक कर्मों को प्रसन्नता पूर्वक करे परन्तु किसी भी पदार्थ अथवा कर्म में लिपायमान न होवे अर्थात् सिर्फ वासना पूर्ति हेतु कोई कार्य न करें। क्योंकि शुद्ध निर्मल चेतन में प्रवृत्ति रोकने के के लिये संसार में अनासक्ति का पालन परम आवश्यक है। इस प्रकार जो भगवत् चिंतन करते हैं उनका योगक्षेम मैं खुद वहन करता हूं। प्रेमपूर्वक पत्र, पुष्प, जल, फल जो भी अर्पण करते हैं उसे मैं स्वीकार करता हूं। कर्म बंधन से मुक्त होने के लिये जो कुछ भी कर्म संसार में करते हैं सब प्रभु को अर्पण करना चाहिये। अपने में कर्तापन का सर्वथा अभाव होना चाहिये। और इस संसार में श्रोत, स्मार्त, स्वधा, ओषधि, वनस्पति, घृत, अग्नि, और हवनरूप क्रिया जगत को धारण पोषण करने वाला फलों को देने वाला सब कुछ परमात्मा ही है, ऐसा ज्ञान होना चाहिये। इस प्रकार ज्ञान सहित जो सकाम भाव से उपासना करते हैं वे पुण्यों के प्रभाव से दीर्घ काल तक स्वर्ग सुख को भोगते हैं एवं पुण्य क्षीण होने पर फिर मृत्यु लोक को आते हैं। और इस ज्ञान सहित जो निष्काम भाव से उपासना करते हैं वे मुझे ही प्राप्त होते हैं, संसार में आवागमन के चक्कर से मुक्त हो जाते हैं। मैं सामान्य रूप से सर्वत्र व्यापक हूँ, परन्तु साधन करने से प्रकट होता हूं जिस प्रकार अग्नि सर्वत्र व्यापक है परन्तु साधन करने पर ही प्रकट होती है। इसलिये मुझ परमात्मा को सर्व शक्तिमान समझ कर मेरा ही

भजन कर, मेरे में अचल मन वाला हो, श्रद्धा और प्रेम सहित मेरी पूजा कर, और विनय भाव पूर्वक भक्ति सहित प्रणाम कर। इस प्रकार मेरे में आत्मा से एकीकरण करके मुझे ही प्राप्त करेगा, मेरे में लय हो जावेगा, जिस प्रकार पारा का टुकड़ा पारा में मिल जाता है। इस प्रकार श्री कृष्ण परमात्मा ने इस गोपनीय योग को अर्जुन को समझा कर संसार में कर्त्तव्य कर्म करने की सलाह दी जिससे अर्जुन, युद्ध जैसे भयानक कर्म को करते हुए भी कर्म बन्धन से मुक्त रह सका। इसी प्रकार कोई भी भूत प्राणी इस संसार में अपने कर्त्तव्य कर्म को अच्छी तरह करता हुआ भी कर्म-बन्धन से मुक्त होकर प्रभु शरणगति को प्राप्त कर सकता है।

॥ इति व्यवहार दर्शन : नवम अध्याय ॥

—:०:—

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानांकपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्त्रोतसास्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो
नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

—:०:—

* ॐ श्री परमात्मने नमः *

दशम अध्याय : भाष्य

भगवान श्री कृष्णचन्द्र ने अर्जुन के प्रति कहा—हे महाबाहो, फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभाव युक्त वचन श्रवण कर जिसे मैं तुझे, अतिशय प्रेम रखने वाले के लिये हित की इच्छा से कहूंगा। हे अर्जुन, मेरी उत्पत्ति को अर्थात् विभूति सहित लीला से प्रकट होने को न देवता लोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं का और महर्षियों का भी आदि कारण हूं।

[भाष्य : १–२]

और जो मेरे को अजन्मा अर्थात् वास्तव में जन्म रहित और अनादि तथा लोकों का महान ईश्वर तत्त्व से जानता है वह मनुष्यों में ज्ञानवान पुरुष सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है । हे अर्जुन, निश्चय करने की शक्ति एवं तत्त्वज्ञान और अमूढ़ता, क्षमा, सत्य तथा इन्द्रियों का वश में करना और मन का निग्रह तथा सुख, दुःख, उत्पत्ति और प्रलय एवं भय और अभय भी, तथा अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, कीर्ति और अपकीर्ति ऐसे यह प्राणियों के नाना प्रकार के भाव मेरे से ही होते हैं । हे अर्जुन, सात तो महर्षिजन और चार उनसे भी पूर्व होने वाले सनकादि तथा स्वायंभुव आदि चौदह मनु ये मेरे में भाव वाले सबके सब मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए हैं जिनकी संसार में सम्पूर्ण प्रजा है । जो पुरुष इस मेरे परमैश्वर्यरूप विभूति को और योग शक्ति को तत्त्व से जानता है, वह पुरुष निश्चय ध्यान योग द्वारा मेरे में ही एकीभाव से स्थित होता है इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।

मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूं और मेरे से ही सब जगत् चेष्टा करता है, इस प्रकार तत्त्व से समझकर श्रद्धा और भक्ति से युक्त हुए बुद्धिमान भक्त जन मुझ परमेश्वर को ही निरन्तर भजते हैं । और वे निरन्तर मेरे में मन लगाने वाले और मेरे में ही प्राणों को अर्पण करने वाले भक्त जन सदा ही आपस में मेरे प्रभाव को जानते हुए तथा गुण और प्रभाव सहित मेरा कथन करते हुए ही संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेव में ही निरन्तर रमण करते हैं ।

[भाष्य : ३–९]

उन निरन्तर मेरे ध्यान में लगे हुए और प्रेम पूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह तत्त्व ज्ञानरूप योग देता हूं जिससे वे मेरे को ही प्राप्त होते हैं। उनके ऊपर अनुग्रह करने के लिये ही मैं स्वयं उनके अन्तःकरण में एकीभाव से स्थित हुआ अज्ञान से उत्पन्न हुए अन्धकार के प्रकाशमय तत्त्वज्ञान रूप दीपक द्वारा नष्ट करता हूं। इस प्रकार भगवान के वचनों को सुनकर अर्जुन बोला–हे भगवान, आप परम ब्रह्म और परमधाम एव परम पवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिजन सनातन दिव्य पुरुष एवं देवों का भी आदिदेव अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं वैसे ही देव ऋषि नारद तथा असित और देवलऋषि तथा महर्षि व्यास और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं। हे केशव, जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं इस समस्त को मैं सत्य मानता हूं। हे भगवान, आपके लीलामय स्वरूप को न दानव जानते हैं और न देवता ही जानते हैं। हे भूतों को उत्पन्न करने वाले, हे भूतों के ईश्वर, हे देवों के देव, हे जगत् के स्वामी, हे पुरुषोत्तम, आप स्वयं ही अपने से आपको जानते हैं।

इसलिये हे भगवान, आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियों को सम्पूर्णता से कहने के लिये योग्य हैं कि जिस विभूतियों के द्वारा इन सब लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं। हे योगेश्वर, मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवान, आप किन-किन भावों में मेरे द्वारा चिन्तन करने योग्य हैं।

[भाष्य : १०–१७]

और हे जनार्दन,अपनी योग शक्ति को और परमैश्वर्यरूप विभूति को फिर भी विस्तार पूर्वक कहिये क्योंकि आपके अमृतमय वचनों को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती है। श्री कृष्ण भगवान बोले—हे कुरुश्रेष्ठ, अब मैं तेरे लिये अपनी दिव्य विभूतियों को प्रधानता से कहूँगा क्योंकि मेरे विस्तार का अन्त नहीं है । हे अर्जुन, मैं सब भूतों के हृदय में स्थित सबका आत्मा तथा सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूं । हे अर्जुन, मैं अदिति के बारह पुत्रों में विष्णु अर्थात् वामन अवतार और ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य हूँ तथा मैं उनचास वायु देवताओं में मरीचि नामक वायु देवता और नक्षत्रों में नक्षत्रों का अधिपति चन्द्रमा हूं । और मैं वेदों में सामवेद हूं, देवों में इन्द्र हूं और इन्द्रियों में मन हूं, भूत प्राणियों में चेतनता अर्थात् ज्ञान शक्ति हूं । और मैं एकादश रुद्रों में शंकर हूं और यक्ष तथा राक्षसों में धन का स्वामी कुबेर हूं, और मैं आठ वसुओं में अग्नि हूँ तथा शिखरवाले पर्वतों में सुमेरु पर्वत हूँ । और पुरोहितों में मुख्य अर्थात् देवताओं का पुरोहित बृहस्पति मेरे को जान और हे पार्थ, मैं सेनापतियों में स्वामिकार्तिक और जलाशयों में समुद्र हूं । और हे अर्जुन, मैं महर्षियों में भृगु और वचनों में एक अक्षर अर्थात् ओंकार हूँ । सब प्रकार के यज्ञों में जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालों में हिमालय पहाड़ हूं ।

[भाष्य : १८–२५]

और सब वृक्षों में पीपल का वृक्ष और देव ऋषियों में नारद मुनि तथा गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूं। और हे अर्जुन, तू, घोड़ों में अमृत से उत्पन्न होने वाला उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा और हाथियों में ऐरावत नामक हाथी तथा मनुष्यों में राजा मेरे को ही जान। हे अर्जुन, मैं शस्त्रों में वज्र और गौओं में कामधेनु हूं और शास्त्रोक्तरीति से सन्तान की उत्पत्ति का हेतु कामदेव हूं, सर्पों में सर्पराज वासुकि हूँ। तथा मैं नागों में शेषनाग और जलचरों में उनका अधिपति वरुण देवता हूं और पितरों में अयर्मा नामक पित्रेश्वर तथा शासन करने वालों में यमराज मैं हूँ। हे अर्जुन, मैं दैत्यों में प्रह्लाद और गिनती करने वालों में समय हूं तथा पशुओं में मृगराज सिंह और पक्षियों में गरुड़ मैं हूं। और मैं पवित्र करने वालों में वायु और शस्त्रधारियों में राम हूं तथा मछलियों में मगरमच्छ हूँ और नदियों में श्री भागीरथी गंगा हूं। और हे अर्जुन, सृष्टियों का आदि, अन्त और मध्य भी मैं ही हूं तथा मैं विद्याओं में अध्यात्म विद्या अर्थात् ब्रह्म विद्या एवं परस्पर में विवाद करने वालों में तत्व निर्णय के लिये किया जाने वाला वाद हूं। तथ अक्षरों में आकार, समासों में द्वन्द्व नामक समास हूँ तथा अक्षय काल अर्थात् काल का भी महाकाल और विराट स्वरूप सबका धारण पोषण करने वाला भी मैं ही हूं। हे अर्जुन, मैं सबका नाश करने वाला मृत्यु और आगे होने वाले की उत्पत्ति का कारण हूं तथा स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, और क्षमा हूँ। तथा मैं गायन करने योग्य श्रुतियों में वृहत्साम और छन्दों में गायत्री छन्द तथा महीनों में मार्गशीर्ष का महीना और ऋतुओं में बसन्त ऋतु मैं हूँ।

[भाष्य : २६-३५]

हे अर्जुन, मैं छल करने वालों में जुआ और प्रभावशाली पुरुषों का प्रभाव हूं तथा मैं जीतने वालों का विजय हूं और निश्चय करने वालों का निश्चय एवं सात्विक पुरुषों का सात्विक भाव हूँ। और हे अर्जुन वृष्णिवंशियों में वासुदेव अर्थात् मैं स्वयम् तुम्हारा सखा और पाण्डवों में धनंजय अर्थात् तू एवं मुनियों में वेदव्यास और कवियों में शुक्राचार्य कवि भी मैं ही हूँ। और दमन करने वालों को दण्ड अर्थात् दमन करने की शक्ति हूँ, जीतने की इच्छा वालों की नीति हूं और गोपनीयों में अर्थात् गुप्त रखने योग्य भावों में मौन हूं तथा ज्ञानवानों का तत्त्वज्ञान मैं ही हूं। और हे अर्जुन, जो सब भूतों की उत्पत्ति का कारण हैं वह भी मैं ही हूँ, क्योंकि ऐसा वह चर और अचर कोई भी भूत नहीं है कि जो मेरे से रहित होवे, इसलिये सब कुछ मेरे ही स्वरूप है। हे परंतप, मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। यह तो मैंने अपनी विभूतियों का विस्तार तेरे लिये एक देश से अर्थात् संक्षेप से कहा है। इसलिये हे अर्जुन, जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त एवं कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है उस उसको तू मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई जान। अथवा हे अर्जुन, इस बहुत जानने से तेरा क्या प्रयोजन है मैं इस सम्पूर्ण जगत् को अपनी योगमाया के एक अंशमात्र से धारण करके स्थित हूं, इसलिये मेरे को ही तत्त्व से जानना चाहिये।

[भाष्य : ३७-४२

॥ इति विभूति योगो नाम दशमोऽध्यायः ॥

—:०:—

दशम अध्याय : व्यवहार दर्शन

इस अध्याय में श्री कृष्ण परमात्मा, ब्रह्म की विभूति (ऐश्वर्य) का वर्णन करते हैं। वे परम भाग्यवान अर्जुन को, उस निर्गुण-निराकार ब्रह्म के ऐश्वर्य को धारण कर और सगुण साकार रूप से प्रकट होकर उस विभूति का वर्णन करते हैं एवं आवश्यकता अनुसार उस शक्तियों का दर्शन भी अर्जुन को कराते हैं। इस प्रकार भगवान के ऐश्वर्य को अच्छी तरह समझ कर अर्जुन निर्द्वन्द्व होकर कर्तव्य पालन के लिये प्रस्तुत होता है। इस अध्याय में श्री कृष्ण परमात्मा अर्जुन के माध्यम से संसार को यह ज्ञान कराते हैं कि जगत् में जो कुछ भी तेजोमय पदार्थ है, वह सब परमात्मा ही है, ईश्वर से भिन्न कुछ भी नहीं है। इसलिये अपने-अपने कर्त्तव्य को ममत्व रहित होकर पालन करना चाहिये। जो व्यक्ति आसक्ति अथवा ममता से प्रेरित होकर कर्तव्य कर्म का त्याग करता है उसका नाश हो जाता है। संसार में प्रत्येक भूत प्राणी में ममत्व और महत्त्व बिशेषकर इन दोनों की प्रधानता बुद्धि में रहती है। भगवान ने इन विभूतियों का वर्णन करके अर्जुन की महत्व बुद्धि को अपनी ओर अकर्षित कर लिया। इसलिये अर्जुन के चरित्र में हमलोग उनकी अपने परिवार में जो ममता है उसका हमें समय समय पर दर्शन होता है। परन्तु महत्त्व बुद्धि श्री कृष्ण में होने के कारण अर्जुन की विजय होती है।

इस रहस्य को विस्तारपूर्वक समझे कि प्रकृति में भगवान द्वारा बनाये गये पदार्थों में इन्द्रियों के स्वभाव के कारण बरबस प्रेम हो जाता है और वह प्रेम ममता में परिवर्तित हो जाता है, और उस ममत्व के कारण पदार्थों से ऊपर दृष्टि नहीं जाती। दीर्घकाल तक जिस पदार्थ में ममत्व रहता है बुद्धि उसीको महत्त्व देने लगती है। इस प्रकार प्रत्येक जीव संसार के लुभावने पदार्थों में अपने आपको बांध लेता है। उसे इसका पता भी नहीं चलता कि यही संसार का बंधन है, जिसमें क्रमशः हम अपनी करनी द्वारा बंधते जाते हैं। इस विभूति योग के द्वारा भगवान ने अर्जुन की महत्त्व-बुद्धि को परमात्मा में स्थिर करवा दिया। संसार में जो भी प्रिय पदार्थ हैं वे सब परमात्मा के तेज से ही हैं, यह बात अच्छी तरह अर्जुन के अन्तःकरण में बैठ गई। इसलिये अर्जुन की दशा में थोड़ी उन्नति हुई। ममत्व परिवार से सर्वथा तो नहीं गया, परन्तु महत्त्व बुद्धि श्री कृष्ण भगवान के चरणों में मजबूती से लग गई। इस कारण अर्जुन ने, सैन्य शक्ति में कमजोर होते हुए भी, विजय को प्राप्त किया। इसके विपरीत दुर्योधन, जिसे संसार के पदार्थों में ममता भी है और महत्त्व भी संसार के उत्तम भोगों को देता है, जो उसके जीवन चरित्र से अच्छी तरह समझ में आता है, इसीके परिणाम स्वरूप उसके लोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। जो संत इस संसार में आकर अपना ममत्व और महत्त्व दोनों ही परमात्मा के चरणों में अर्पण करते हैं, वे संसार बंधन से मुक्त होकर प्रभु में लय हो जाते हैं, और परमशान्ति को प्राप्त करते हैं, जैसे विदुरजी,

10

जिन्होंने ममत्व और महत्त्व दोनों को ही श्री कृष्ण परमात्मा के चरणों में समर्पण कर दिया था। इस योग से हमलोगों को यह शिक्षा लेनी चाहिये कि महत्त्व बुद्धि श्रीकृष्ण परमात्मा में लगी रहे। भगवान ने भी इस श्लोक के द्वारा यही बताया है :—

यो मामजमनादिंच वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

इस श्लोक का अर्थ ऊपर लिखे ढंग से ठीक समझने से सब पापों का नाश हो जाता है और बन्धन-मुक्त हो जाता है। इसलिये अर्जुन से भगवान ने कहा कि जो कुछ भी विभूतियुक्त, ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है उसको तू मेरे तेज से ही उत्पन्न हुई जान। इससे तू कर्म बंन्धनों से मुक्त हो जावेगा। इस विभूति योग में भगवान ने अपने ऐश्वर्य का वर्णन करके अर्जुन की निष्ठा को अपने में आकर्षित कर लिया।

इस योग के पाठ करने का फल यह होना चाहिये की हमारा पूर्ण विश्वास प्रभु में हो जावे। एवं परिणामस्वरूप हम यह निश्चय कर लेवें कि भगवान जो करते हैं हमारे भले के लिये ही करते हैं और संसार में अपनी योग्यता अनुसार कर्म करते रहें।

॥ इति दशम अध्याय : व्यवहार दर्शन ॥

—:०:—

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथैकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥
अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।

बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधा ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान ॥ ३४ ॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

यच्चावहासार्थसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकःकुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।

एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

—:०:—

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

अथ एकादश अध्याय : भाष्य

भगवान के वचन को सुनकर अर्जुन ने कहा–हे भगवान, मेरे पर अनुग्रह करने के लिये परमगोपनीय अध्यात्मविषयक वचन अर्थात् उपदेश आपके द्वारा जो कहा गया उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है। क्योंकि हे कमलनेत्र, मैंने भूतों की उत्पत्ति और प्रलय आपसे विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपका अविनाशी प्रभाव भी सुना है।

[भाष्य : १–२]

हे परमेश्वर, आप अपने को जैसा कहते हो यह ठीक ऐसा ही है, परन्तु हे पुरुषोत्तम, आपके ज्ञान, एश्वर्य, शक्ति, बल, बीर्य और तेजयुक्त रूप को प्रत्यक्ष देखना चाहता हूं। इसलिये हे प्रभो, मेरे द्वारा वह आपका रूप देखा जाना शक्य है ऐसा यदि मानते हैं तो हे योगेश्वर, आप अपने अविनाशी स्वरूप का मुझे दर्शन कराइये। इस प्रकार अर्जुन, के प्रार्थना करने पर श्री कृष्ण भगवान बोले–हे पार्थ, मेरे सैकड़ों तथा हजारों नाना प्रकार के और नाना वर्ण तथा आकृति वाले अलौकिक रूपों को देख। और हे भरतवंशी अर्जुन, मेरे में आदित्यों को अर्थात् अदिति के द्वादश पुत्रों को और आठ वसुओं को, एकादश रुद्रों को तथा दोनों अश्विनी कुमारों को और उन्चास मरुद्गणों को देख तथा और भी बहुत से पहिले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपों को देख। हे अर्जुन, अब इस मेरे शरीर में एक जगह स्थित हुए चराचर सहित सम्पूर्ण जगत् को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है सो देख। परन्तु मेरे को इन अपने प्राकृत नेत्रों द्वारा देखने को निःसन्देह समर्थ नहीं है। इसीसे मैं तेरे लिये दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ। उससे तू मेरे प्रभाव को और योग शक्ति को देख।

[भाष्य : ३–८]

संजन ने कहा–हे राजन्, महायोगेश्वर और सब पापों के नाश करने वाले भगवान ने इस प्रकार कहकर उसके उपरान्त अर्जुन के लिये परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखाया । और उस अनेक मुख और नेत्रों से युक्त तथा अनेक अद्भुत दर्शनों वाले एवं बहुत से दिव्य भूषणों से युक्त और बहुत से दिव्य शस्त्रों को हाथों में उठाये हुए, तथा दिव्य माला और वस्त्रों को धारण किये हुए और दिव्य गन्ध का अनुलेपन किये हुए एवं सब प्रकार के आश्चर्यों से युक्त सीमा रहित विराट् स्वरूप परमदेव परमेश्वर को अर्जुन ने देखा । और हे राजन्, आकाश में हजार सुर्यों के एकसाथ उदय होने से उत्पन्न हुआ जो प्रकाश होवे वह भी उस विश्वरूप परमात्मा के प्रकाश के सदृश कदाचित्त् ही होवे, ऐसे आश्चर्यमय रूप को देखते हुए पाण्डुपुत्र अर्जुन ने उस काल में अनेक प्रकार से विभक्त हुए अर्थात् पृथक-पृथक हुए सम्पूर्ण जगत् को उस देवों के देव श्री कृष्ण भगवान् के शरीर में एक जगह स्थित देखा । और उसके अनन्तर वह आश्चर्य से युक्त हुआ हर्षित रोमोंवाला अर्जुन, विश्वरूप परमात्मा को श्रद्धा भक्ति सहित सिर से प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए बोला–हे देव, आपके शरीर में सम्पूर्ण देवों को तथा अनेक भूतों के समुदायों को और कमल के आसन पर बैठे हुए ब्रह्मा को तथा महादेव को और सम्पूर्ण ऋषियों को तथा दिव्य सर्पों को देखता हूं । और हे सम्पूर्ण विश्व के स्वामिन, आपको अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्रों से युक्त तथा सब ओर से अनन्त रूपोंवाला देखता हूँ । हे विश्वरूप, आपके न अन्त को देखता हूँ तथा न मध्य को और न आदि को ही देखता हूं ।

[भाष्य : ९–१६]

और हे विष्णो, आपके मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब ओर से प्रकाशमान तेज का पुञ्ज प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के सदृश ज्योतियुक्त देखने में अति गहन और अप्रमेय स्वरूप को सब ओर से देखता हूं। इसलिये हे भगवान, आप ही जानने योग्य परम अक्षर हैं अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस जगत् के परम आश्रय हैं तथा आप ही अनादि धर्म के रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं ऐसा मेरा मत है। हे परमेश्वर, मैं आपको आदि, अन्त और मध्य से रहित तथा अनन्त सामर्थ्य से युक्त और अनन्त हाथोंवाला तथा चन्द्र-सूर्य रूप नेत्रोंवाला और प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाला तथा अपने तेज से इस जगत् को तपायमान करता हुआ देखता हूं। और हे महात्मन्, यह स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशायें एक आपसे ही परिपूर्ण हैं तथा आपके इस अलौकिक और भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक अतिव्यथा को प्राप्त हो रहे हैं। और हे गोविन्द, वे सब देवताओं के समूह आपमें ही प्रवेश करते हैं और कई एक भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नाम और गुणों का उच्चारण करते हैं तथा महर्षि और सिद्धों के समुदाय कल्याण होवे ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति करते हैं। और हे परमेश्वर, जो एकादश रुद्र और द्वादश आदित्य तथा आठ वसु और साध्यगण विश्वदेव तथा अश्विनीकुमार और मरुद्गण और पितरों का समुदाय तथा गन्धर्व, यज्ञ, राक्षस और सिद्धगणों के समुदाय हैं वे सब विस्मित हुए आपको देखते हैं।

[भाष्य : १७-२२]

और हे महाबाहो, आपके बहुत मुख और नेत्रों वाले तथा बहुत हाथ, जंघा और पैरोंवाले और बहुत उदरोंवाले तथा बहुत सी विकराल जाड़ों वाले महान् रूपको देखकर सब लोक व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूं। क्योंकि हे विष्णो, आकाश के साथ स्पर्श किये हुए देदिप्यमान अनेक रूपों से युक्त तथा फैलाये हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रों से युक्त आपको देखकर भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धीरज और शान्ति को नहीं प्राप्त होता हूं। और हे भगवन्, आपके विकराल जाड़ों वाले और प्रलय काल की अग्नि के समान प्रज्वलित मुखों को देखकर दिशाओं को नहीं जानता हूं और सुख को भी नहीं प्राप्त होता हूं। इसलिये हे देवेश, हे जगन्निवास, आप प्रसन्न होवें। और मैं देखता हूं कि वे सब ही धृतराष्ट्र के पुत्र राजाओं के समुदाय सहित आपमें प्रवेश करते हैं और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य तथा वह कर्ण और हमारे पक्ष के भी प्रधान योद्धाओं के सहित सबके सब, बेग युक्त हुए आपके विकराल जाड़ोंवाले भयानक मुखों में प्रवेश करते हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरों सहित आपके दाँतों के बीच में लगे हुए दीखते हैं। हे विश्वमूर्ते, जैसे नदियों के बहुत से जल के प्रहाव समुद्र के ही सम्मुख दौड़ते हैं अर्थात् समुद्र में प्रवेश करते हैं वैसे ही वे शूरवीर मनुष्यों के समुदाय भी आपके प्रज्वलित हुए मुखों में प्रवेश करते हैं।

[भाष्य : २३–२६]

अथवा जैसे पतंग मोहके वश होकर नष्ट होने के लिये प्रज्वलित अग्नि में अति वेग से युक्त हुए प्रवेश करते हैं वैसे ही यह सब लोक भी अपने नाश के लिये आपके मुखों में अति वेग से युक्त हुए प्रवेश करते हैं ।

और आप उन सम्पूर्ण लोकों को प्रज्वलित मुखों द्वारा ग्रसन करते हुए सब ओर से चाट रहे हैं । हे विष्णो, आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत् को तेज के द्वारा परिपूर्ण करके तपायमान करता है । हे भगवन, कृपा करके मेरे प्रति कहिये कि आप उग्ररूप वाले कौन हैं । हे देवों में श्रेष्ठ, आपको नमस्कार होवे । आप प्रसन्न होइये । आदि स्वरूप आपको मैं तत्त्व से जानना चाहता हूँ, क्योंकि आपकी प्रवृत्तिको मैं नहीं जानता । इस प्रकार अर्जुन, के पूछने पर श्री कृष्ण भगवान बोले—हे अर्जुन, मैं लोकों का नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूं । इस समय इन लोकों को नष्ट करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ । इसलिये जो प्रतिपक्षियों की सेना में स्थित हुए योद्धा लोग हैं वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे । इससे तू खड़ा हो और यश को प्राप्त कर तथा शत्रुओं को जीतकर धन-धान्य से सम्पन्न राज्य को भोग और यह सब शूर-वीर पहिले से ही मेरे द्वारा मारे हुए हैं । हे सव्यसाचिन्, तू तो केवल निमित्त मात्र ही होगा । तथा इन द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी बहुत से मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओं को तू मार और भय मत कर । निःसन्देह तू युद्ध में वैरियों को जीतेगा इसलिये युद्ध कर ।

[भाष्य : ३०–३४]

इसके उपरान्त संजय बोला कि हे राजन्, केशव भगवान् के इस वचन को सुनकर मुकुटधारी अर्जुन, हाथ जोड़े हुए कांपता हुआ नमस्कार करके फिर भी भयभीत हुआ प्रणाम करके भगवान श्री कृष्ण के प्रति गद्‌-गद्‌ वाणी से बोला ।

हे अन्तर्यामिन, यह योग्य ही है कि जो आपके नाम और प्रभाव के कीर्तन से जगत् अति हर्षित होता है और अनुराग को भी प्राप्त होता है तथा भयभीत हुए राक्षस लोग दिशाओं में भागते हैं और सब सिद्धगणों के समुदाय नमस्कार करते हैं । हे महात्मन्, ब्रह्म के भी आदिकर्त्ता और सबसे बड़े आपके लिये वे कैसे नमस्कार नहीं करें क्योंकि हे अनन्त, हे देवेश, हे जगन्निवास, जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है वह आप ही हैं। और हे प्रभो, आप आदि देव और सनातन पुरुष हैं । आप इस जगत् के परम आश्रय और जानने वाले तथा जानने योग्य और परम धाम हैं । हे अनन्त रूप, आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है । और हे हरे, आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा तथा प्रजा के स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्मा के भी पिता हैं । आपके लिये हजारों बार नमस्कार होवे । आपके लिये फिर भी बारम्बार नमस्कार-नमस्कार होवे ।

[भाष्य : ३५–३९]

और हे अनन्त सामर्थ्य वाले, आपके लिये आगे से और पीछे से भी नमस्कार होवे क्योंकि अनन्त पराक्रम-शाली आप सब संसार को व्याप्त किये हुए हैं। इससे आप ही सर्वरूप हैं । हे परमेश्वर, सखा ऐसे मानकर आपके इस प्रभाव को न जानते हुए मेरे द्वारा प्रेम से अथवा प्रमाद से भी हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे, इस प्रकार जो कुछ हठपूर्वक कहा गया है और हे अच्युत, जो आप हँसी के लिये विहार, शय्या, आसन और भोजनादिको में अकेले अथवा उन सखाओं के सामने अपमानित किये गये हैं वह सब अपराध अप्रमेय स्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाव वाले आपसे मैं क्षमा कराता हूं ।

हे विश्वेश्वर, आप इस चराचर जगत् के पिता और गुरु से भी बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं । हे अतिशय प्रभाव वाले, तीनों लोकों में आपके समान दूसरा कोई भी नहीं है फिर अधिक कैसे होवे । इससे हे प्रभो, मैं शरीर को अच्छी तरह चरणों में रखके और प्रणाम करके स्तुति करने योग्य आप ईश्वर को प्रसन्न होने के लिये प्रार्थना करता हूं । हे देव, पिता जैसे पुत्र के और सखा जैसे सखा के और पति जैसे प्रिय स्त्री के वैसे ही आप भी मेरे अपराध को सहन करने योग्य हैं । हे विश्वमूर्ते मैं पहिले न देखे हुए आश्चर्यमय आपके इस रूप को देखकर हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भय से अति ब्याकुल भी हो रहा है । इसलिये हे देव, आप उस अपने चतुर्भुज रूप को ही मेरे लिये दिखाइये । हे देवेश, हे जगन्निवास, प्रसन्न होइये ।

[भाष्य : ४०–४५]

और हे विष्णो, मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथ में लिये हुए देखना चाहता हूँ। इसलिये हे विश्वरूप, हे सहस्रबाहो, आप उस ही चतुर्भुज रूप से युक्त होइये। श्री भगवान बोले–हे अर्जुन, अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योग शक्ति के प्रभाव से यह मेरा परम तेजोमय सबका आदि और सीमा रहित विराट् रूप तेरे को दिखाया है जो तेरे सिवाय दूसरे से पहिले नहीं देखा गया। हे अर्जुन, मनुष्य लोक में इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं न वेद और यज्ञों के अध्ययन से तथा न दान से और न क्रियाओं से और न उग्र तपों से ही तेरे सिवाय दूसरे से देखा जाने को शक्य हूं। इस प्रकार मेरे इस विकराल रूप को देखकर तेरे को व्याकुलता न होवे और मूढ़ भाव भी न होवे और भय रहित प्रीतियुक्त मनवाला तू उस ही मेरे इस शंख, चक्र, गदा, पद्म सहित चतुर्भुज रूप को फिर देख।

उसके उपरान्त संजय बोला–हे राजन्, वासुदेव भगवान् ने अर्जुन के प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज रूप को दिखाया और फिर महात्मा कृष्ण ने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत हुए अर्जुन को धीरज दिया। उसके उपरान्त अर्जुन बोला–हे जनार्दन, आपके इस अतिशान्त मनुष्य रूप को देखकर अब मैं शान्त चित्त हुआ अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया हूं।

[भाष्य : ४६–५१]

इस प्रकार अर्जुन के वचन को सुनकर श्री कृष्ण भगवान् बोले– हे अर्जुन, मेरा यह चतुर्भुज रूप देखने को अति दुर्लभ है कि जिसको तुमने देखा है क्योंकि देवता भी सदा इस रूप के दर्शन करने की इच्छा रखते हैं। और हे अर्जुन, न वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं देखा जाने को शक्य हूँ कि जैसे मेरे को तुमने देखा है। परन्तु हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन, अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखने के लिये और तत्त्व से जानने के लिये तथा प्रवेश करने के लिये अर्थात् एकीभाव से प्राप्त होने के लिये भी शक्य हूं। हे अर्जुन, जो पुरुष केवल मेरे ही लिये यज्ञ, दान, तप आदि संपूर्ण कर्त्तव्य कर्मों को करनेवाला है और मेरे परायण है अर्थात् मेरे को परम गति मानकर मेरी प्राप्ति के लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम का सुमिरण, गुण और प्रभाव का चिन्तन तथा मेरे में ही निष्ठावान् है और आसक्ति रहित अर्थात् सब में स्नेह रखते हुए भी लिपायमान न होने वाला संपूर्ण भूत-प्राणियों में वैर भाव से रहित है ऐसा वह अनन्य भक्तिवाला पुरुष मेरे को ही प्राप्त होता है।

[भाष्य : ५२–५५]

।। इति विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ।।

—:०:—

एकादश अध्याय : व्यवहार दर्शन

इस अध्याय में श्री कृष्ण परमात्मा द्वारा उनके ऐश्वर्य का वर्णन सुनकर अर्जुन को उनके विश्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन करने की इच्छा होती है एवं विनम्रता पूर्वक उनसे इसके लिए प्रार्थना करते हैं। भगवान अर्जुन को दिव्यदृष्टि प्रदान करते हैं और अपने विश्वरूप का दर्शन कराते हैं। इस दिव्यदृष्टि को ज्ञान-नेत्र कह सकते हैं। इस ज्ञान-नेत्र को प्राप्त करने के लिये साधक का अभ्यास द्वारा जिन गुणों को अपने अन्तःकरण में धारण करना चाहिये वे हैं स्थिर प्रज्ञ, निष्काम कर्म, सात्विकी श्रद्धा, इन्द्रिय-निग्रह, आत्म-संयम, सृष्टि विज्ञान, अक्षर ब्रह्मबोध, गोपतत्त्व और ऐश्वर्य-बोध। इन सद्‌गुणों को दूसरे अध्याय से दसवें अध्याय तक भिन्न-भिन्न योगों द्वारा समझाया गया है (जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन "जीवनोद्धार प्रकाश" पुस्तक में किया गया है)। जो कुछ भी दृष्य जगत् दिखाई देता है वह सब प्रभु का स्वरूप है। इस स्वरूप को देखने का तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी दिखाई दे रहा है वह सब एक अद्वितीय परमात्मा ही है। इसलिये हम अपने आपको एक निमित्त मात्र समझकर कर्तव्यों का पालन करते रहें तो अन्तःकरण में शान्ति का अनुभव कर सकते हैं, आनन्द की उपलब्धि हो सकती है। इसके विपरीत यदि इस विश्वरूप का तत्त्वतः हमें ज्ञान नहीं होगा तो हम अपने आपको संग्रहीत पदार्थों का मालिक समझेंगे और परिणामस्वरूप उनके

अभाव में दुःख और अशान्ति को भोगेंगे। इस एकादश अध्याय में विस्तारपूर्वक श्री कृष्ण परमात्मा ने अर्जुन को विश्वरूप का दर्शन–कि एक मेरे में ही सब निहित है इसका पूर्णतः बोध कराने के लिये किया। साधक यदि ठीक इसी भावना से इस अध्याय का पाठ करे तो उसे देह अभिमान का सर्वथा अभाव हो जायगा। इस विराट् रूप को अर्जुन अधिक देर तक देख नहीं सका और भयभीत होकर प्रार्थना करने लगा कि हे प्रभु, आप पुनः उसी चतुर्भुज रूप का दर्शन करा दें। साधक एक में अपने सहित अनेक देख कर अधिक समय तक अपने को स्थिर नहीं रख सकता क्योंकि व्यापक तत्त्व में अपने को एक कण समान सीमित दायरे में रखकर उस विश्वरूप का आनन्द उपलब्ध नहीं कर सकता। इसलिये सीमित दायरे में रहने वाला असीम शक्ति सम्पन्न को अपने मालिक रूप में अथवा रक्षक रूप में देख कर ही प्रसन्नता का अनुभव कर सकता है, यही भगवान का चतुर्भुज रूप है। इसे ही स्वामी-सेवक भाव कहते हैं। इस प्रकार के दर्शन से अर्जुन को शान्ति प्राप्त होती है। इस अध्याय से एक महत्त्वपूर्ण बात यह समझ में आती है कि यह अद्वैत सिद्धान्त क्या है। परमआत्मा के इस विराट् स्वरूप दर्शन से यह निश्चय होता है कि अद्वैत ब्रह्म सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान एक ही है। विचारों में सब समय यह बात दृढ़ निश्चय के साथ रहनी चाहिये, कि क्रिया में जबतक बुद्धि को इस बात का ज्ञान है कि मैं इस सर्वशक्तिमान से भिन्न एक अल्पशक्ति-सम्पन्न अंश (जीव) हूं तब

तक ही वह अपना इष्ट देव, अपना मालिक, उपास्य देव समझकर उपासना कर सकता है एवं निरन्तर अहंकार त्यागकर प्रभु के चरणों में पूर्ण समर्पण कर भगवत् कृपा प्राप्त करने के लिये साधन करता है। जिस क्षण भगवत् कृपा प्राप्त हो गई उस समय भगवान् उसे अपने हृदय से लगायेंगे यही उसका भिन्न से अभिन्न होना है या ज्योति में ज्योति का समावेश होना है,यह एक सिद्धान्त है। इसी विषय को दूसरी तरह से इस प्रकार कहा जा सकता है कि ब्रह्म व्यापक है और उसकी सत्ता सर्वत्र समान रूप है। कर्मों के कारण जो मैल जीव में आया है उसे निरन्तर चेष्टा कर शुद्ध करते ही वह ब्रह्म में जहाँ पहले से ही मिला हुआ था अपनी उस यथावत स्थिति में हो जावेगा। यहां निरन्तर चेष्टा कर मन का शुद्ध होना ही भगवत् कृपा है। परन्तु यह निश्चित है कि जब तक बुद्धि में शक्ति के माप-तोल के कारण भिन्नता का अनुभव होता है उस समय तक स्वामी-सेवक भाव से ही उपासना में सफलता प्राप्त होगी।

॥ इति व्यवहार दर्शन : एकादश अध्यायः ॥

—:o:—

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो
नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

—:०:—

द्वादश अध्याय : भाष्य

इस प्रकार भगवान के वचनों को सुनकर अर्जुन बोला-हे मनमोहन, जो अनन्य प्रेमी भक्तजन इन पूर्वोक्त प्रकार से निरन्तर आपके भजन ध्यान में लगे हुए आप सगुण रूप परमेश्वर को अति श्रेष्ठ भाव से उपासते हैं, और जो अविनाशी सच्चिदानन्द-घन निराकार को ही उपासते हैं उन दोनों प्रकार के भक्तों में अति उत्तम योगवेत्ता कौन है ? श्री कृष्ण भगवान बोले-हे अर्जुन, मेरे में मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन ध्यान में लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वर को भजते हैं वे मेरे को योगियों में भी अति उत्तम योगी मान्य हैं। और जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को अच्छी तरह वश में करके मन-बुद्धि से परे सर्वव्यापी अकथनीय स्वरूप और सदा एक रस रहने वाले नित्य अचल निराकार अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को निरन्तर एक ही भाव से ध्यान करते हुए उपासते हैं वे संपूर्ण भूतों के हित में रत हुए और सबमें समान भाव वाले योगी भी मेरे को ही प्राप्त होते हैं। किन्तु उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म में आसक्त हुए चित्त वाले पुरुषों को साधन में क्लेश अर्थात् परिश्रम विशेष हैं क्योंकि देहाभिमानियों से अव्यक्त विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है। अर्थात् जबतक शरीर में अभिमान रहता है तब तक शुद्ध सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म में स्थिति होनी कठिन है।

[भाष्य : १-५]

और जो मेरे परायण हुए भक्तजन संपूर्ण कर्मों को मेरे में अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वर की ही तैलधारा के सदृश अनन्य ध्यानयोग से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं।

हे अर्जुन, उन मेरे में चित्तवाले प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार समुद्र से उद्धार करने वाला होता हूँ। इसलिये हे अर्जुन, तू मेरे में मन को लगा और मेरे में ही बुद्धि को लगा। इसके उपरान्त तू मेरे में ही निवास करेगा अर्थात् मेरे को ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। और यदि तू मन को मेरे में अचल स्थापन करने के लिये समर्थ नहीं है तो हे अर्जुन, अभ्यासरूप योग के द्वारा मेरे को प्राप्त होने के लिये इच्छा कर। और यदि तू ऊपर कहे हुए अभ्यास में भी असर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करने के ही परायण हो। इस प्रकार मेरे अर्थ कर्मों को करता हुआ भी मेरे प्राप्ति रूप सिद्धि को ही प्राप्त होगा। और यदि तू इसको भी करने के लिये असमर्थ है तो जीते हुए मनवाला और मेरी प्राप्तिरूप योग के शरण हुआ सब कर्मों के फल का मेरे लिये त्याग कर। क्योंकि मरम को न जानकर किये हुए अभ्यास से परोक्षज्ञान श्रेष्ठ है और परोक्षज्ञान से मुझ परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है तथा ध्यान से भी सब कर्मों का फल का मेरे लिये त्याग करना श्रेष्ठ है और त्याग से तत्काल ही परमशान्ति होती है।

[भाष्य : ६–१२]

इस प्रकार शान्ति को प्राप्त हुआ जो पुरुष सब भूतों में द्वेष-भाव से रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममता से रहित एवं अहंकार से रहित सुख:दुखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करने वाले को भी अभय देने वाला है तथा जो ध्यान योग में युक्त हुआ निरन्तर लाभहानि में संतुष्ट है तथा मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किये हुए मेरे में दृढ़ निश्चयवाला है वह मेरे में अर्पण किये हुए बुद्धिवाला मेरा भक्त मेरे को प्रिय है ।

जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता है और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता है तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिकों से रहित है वह भक्त मेरे को प्रिय है । और जो पुरुष आकाङ्क्षा से रहित तथा बाहर भीतर से शुद्ध और चतुर है अर्थात् जिस काम के लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं पक्षपात से रहित और दुःखों से छूटा हुआ है वह सर्व आरम्भों का त्यागी मेरा भक्त मेरे को प्रिय है । जो न कभी हर्षित होता है और न द्वेष करता है, न शोच करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ संपूर्ण कर्मों के फल का त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मेरे को प्रिय है ।

[भाष्य : १३-१७]

और जो पुरुष शत्रु-मित्र में और मान-अपमान में सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादिक द्वन्द्वों में सम है और सब संसार में आसक्ति से रहित है, निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला और मननशील है एवं जिस किस प्रकार से भी शरीर का निर्वाह होने में सदा ही संतुष्ट है और रहने के स्थान में ममता से रहित है वह स्थिर बुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मेरे को प्रिय है। और जो मेरे परायण हुए श्रद्धायुक्त पुरुष इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृत को निष्कामभाव से सेवन करते हैं वे भक्त मेरे को अतिशय प्रिय हैं।

[भाष्य : १८–२०]

॥ इति भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

—:०:—

द्वादश अध्याय : व्यवहार दर्शन

इस अध्याय में अर्जुन भगवान से प्रश्न करते हैं कि सगुण और निर्गुण उपासना करने वालों में कौन-सा भक्त श्रेष्ठ है। इस प्रश्न पर भगवान श्रीकृष्ण ने इस प्रकार समझाया कि दोनों ही भक्त श्रेष्ठ और मुझे प्रिये हैं, परन्तु जिसने मेरे में मन को एकाग्र करके अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त अर्थात् निरन्तर मेरे भजन ध्यान में लगा रहता है अर्थात् जो एक भी क्षण अपने देह अभिमान में नहीं आता वह मुझ सगुणरूप परमेश्वर की उपासना कर शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेता है और ऐसे भक्तों पर मैं भी बड़ा प्रसन्न रहता हूं। और जो इन्द्रियों को वश में करके मन-बुद्धि से परे सदा एकरस निराकार ब्रह्म में सब भूतों में समभाव रखकर सब भूतों के हित में रत होकर ध्यान लगाते हैं अथवा उपासना करते हैं वे भी मुझे ही प्राप्त करते हैं। इसमें भी देह अभिमान का त्याग करना पड़ता हैं। इन सगुण साकार और निर्गुण निराकार दोनों उपासनाओं में देह अभिमान को छोड़ना आवश्यक है। साकार उपासना में अपने को प्रभु चरणों में समर्पण करने से स्वतः ही देह अभिमान छूट जाता है, और निराकार उपासना में इन्द्रियों को वश में करके सब भूतों में समभाव रखकर देह अभिमान का त्याग करना पड़ता है। साकार उपासना में आधार मिल जाता है, इसलिये इसे करना सुगम है। भगवान का प्रिय बनने के लिये श्रीकृष्ण परमात्मा ने और भी कई मार्ग अर्जुन

को बतलाये जिनके द्वारा भगवद् भक्ति प्राप्त की जा सकती है। अर्जुन को उन्होंने बताया यदि तू मेरे में मन लगाने में समर्थ नहीं है तो अभ्यास कर अर्थात् नवधा भक्ति के द्वारा निरन्तर मुझे प्राप्त करने के लिये अभ्यास कर। नवधा भक्ति इस प्रकार है :

(१) **प्रथम : ज्ञानेन्द्रियों** के द्वारा अभ्यास करने के लिये प्रभु के गुणों का **श्रवण, कीर्तन** और **स्मरण** ये तीन साधन बताये।

(२) **द्वितीय : कर्मेन्द्रियों** के द्वारा अभ्यास करने के लिये प्रभु के साकार विग्रह में **बन्दन, अर्चन** और **पादसेवन** ये तीन साधन बताये।

(३) **तृतीय : अन्तःकरण** का अभ्यास मन और बुद्धि द्वारा प्रभु में **साख्य** (सखाभाव), **दास्य** (सेवाभाव) और **आत्मनिवेदन** (समर्पण) ये तीन साधन बताये।

और यदि इनका अभ्यास करने में भी तू समर्थ नहीं है तो इस संसार में जो कुछ कर्म करता है वह सब मेरे को अर्पण करके कर।

और यदि कर्म को मेरे में अर्पण करने में असमर्थ है तो जो कुछ कर्म तू करता है उसका फल मेरे को अर्पण कर दे। मतलब, यदि कर्म करने के कर्तापन का त्याग नहीं कर सकता तो फल का त्याग कर।

इस प्रकार भगवत् प्राप्ति के कई मार्गों का निर्देश श्रीकृष्ण परमात्मा ने इस भक्तियोग में किया 'और इस प्रकार समझाया कि हे अर्जुन, मर्म को जाने बिना अभ्यास योग से परोक्ष ज्ञान

श्रेष्ठ है। परोक्ष ज्ञान शास्त्रों के स्वाध्याय से सगुण परमात्मा का अनुमान करने को कहते हैं। इस ज्ञान से श्रेष्ठ परमात्मा में धारणा ध्यान को कहते हैं और ध्यान से भी श्रेष्ठ कर्मों के फल का त्याग करना है। इस प्रकार क्रमशः साधन कर पूर्ण सफलता को प्राप्त कर सकता है जैसे पहले अभ्यास योग को करके स्वाध्याय के द्वारा जाने हुये परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करे। इसके उपरान्त प्रारब्ध से प्राप्त शरीर से जो कुछ भी कर्म करना पड़े सब प्रभु को समर्पण कर अर्थात् फल त्याग की वृत्ति से कर्म करना चाहिये। जब वृत्ति में पूर्णता से त्याग आ जायगा वैसी स्थिति में उसे अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा अनन्त शान्ति प्राप्त होगी। अपरोक्ष ज्ञान उसे कहते हैं जिसमें परमात्मा का पूर्ण बोध प्रत्यक्ष हो जाय।

इस अध्याय में भगवान अपने प्रिय भक्तों के लक्षणों का वर्णन करते हैं जिन्हें समझकर हमलोगों को आत्म निरीक्षण करना चाहिये। इससे हमारा अध्यात्म मार्ग में उन्नति होगी। भगवान के प्रिय भक्तों का लक्षण निम्न प्रकार हैं:

(१) जो द्वेष रहित, स्वार्थ रहित, हेतु रहित, ममता रहित, अहंकार रहित, सुख-दुःख में सम, क्षमावान, ध्यानयोग में युक्त, लाभ-हानि में संतुष्ट, इन्द्रिय-निग्रही, दृढ़निश्चय वाला और मन बुद्धि सहित समर्पण करने वाला है, वह मेरा प्रिय भक्त है।

(२) जिस व्यक्ति के व्यहवार से कोई भी उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, और जो किसी से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता तथा हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगों से रहित है वह व्यक्ति मेरे को प्रिय है।

(३)जो आकांक्षा रहित, बाहर-भीतर से शुद्ध, परमार्थ में चतुर, पक्षपात रहित, दुःखों से रहित, और सांसारिक सभी संकल्पों को त्याग करने वाला है वह मेरे को प्रिय है ।

(४) राग-द्वेष रहित, कामना रहित, शुभ और अशुभ फल को त्याग करने वाला भक्त मुझे प्रिय है ।

(५) जो शत्रु, मित्र, मान, अपमान में सम रहने वाला तथा सर्दी गर्मी-सुख-दुःख के द्वन्द्वों में सम और संसार में आसक्ति रहित, निन्दा-स्तुति में सम, मननशील, प्रत्येक परस्थिति में संतुष्ट, ममता रहित और स्थिर बुद्धि वाला है वह भक्त मुझे प्रिय है ।

(६) जो मेरे परायण (आश्रय), सत्त्विकी श्रद्धा युक्त, धर्ममय अमृत को निष्काम भाव से सेवन करने वाला है वह भक्त मुझे अतिशय प्रिय है ।

इस प्रकार इस अध्याय में भगवान ने भगवत् प्राप्ति के मार्ग तथा भगवत् प्राप्त व्यक्तियों के लक्षण बताकर परमार्थ मार्ग में उन्नति करने की प्रेरणा दी है । इस तरह से व्यवहार कर कोई भी मनुष्य भगवान का प्रिय बन सकता है ।

॥ इति व्यवहार दर्शन : द्वादश अध्याय ॥

—:०:—

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥
सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १६ ॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

—:०:—

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

अथ त्रयोदश अध्याय : भाष्य

भक्तियोग को समझाकर फिर श्री कृष्ण भगवान ने कहा—हे अर्जुन, यह शरीर क्षेत्र है ऐसा कहा जाता है और इसको जो जानता है उसको क्षेत्रज्ञ, ऐसे उनके तत्त्व को जानने वाले ज्ञानीजन कहते हैं । और हे अर्जुन, तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मेरे को ही जान और क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का अर्थात् विकार सहित प्रकृति का और पुरुष का जो तत्त्व से जानना है वह ज्ञान है ऐसा मेरा मत है ।

[भाष्य : १–२]

इसलिये वह क्षेत्र जो है और जैसा है तथा जिन विकारों वाला हैं और जिस कारण से जो हुआ है तथा वह (क्षेत्रज्ञ) भी जो है और जिस प्रभाव वाला है वह सब संक्षेप में मेरे से सुन। यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्त्व ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है अर्थात् समझाया गया है और नाना प्रकार के वेदमन्त्रों से विभाग पूर्वक कहा गया है तथा अच्छी तरह निश्चय किये हुए युक्ति युक्त ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा भी वैसे ही कहा गया है । और हे अर्जुन, वही मैं तेरे लिये कहता हूँ कि पांच महाभूत-अहंकार बुद्धि और मूल प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पांच इन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुंःख और स्थूल देह का पिण्ड एवं चेतनता और धृति इस प्रकार यह क्षेत्र विकारों के सहित संक्षेप से कहा गया । और हे अर्जुन, श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव दम्भाचरण का अभाव, अहिंसा, क्षमाभाव तथा मन, वाणी की सरलता, श्रद्धा सहित गुरु की सेवा, बाहर भीतर की शुद्धि, अन्तःकरण की स्थिरता मन और इन्द्रियों सहित शरीर का निग्रह ।

तथा इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण भोगों में आसक्ति का अभाव और अहंकार का भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि में दुंःख दोषों का बारम्बार विचार करना ।

[भाष्य : ३-८]

तथा पुत्र, स्त्री, घर और धनादि में आसक्ति का अभाव और ममता का न होना तथा प्रिय, अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त का सम रहना, और मुझ परमेश्वर में एकीभाव से स्थितिरूप ध्यान योग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देश में रहने का स्वभाव और विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में प्रेम का न होना, तथा अध्यात्मज्ञान में नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को सर्वत्र देखना यह सब तो ज्ञान है और जो इससे विपरीत है वह अज्ञान है ऐसे कहा है। और हे अर्जुन, जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्द को प्राप्त होता है उसको अच्छी तरह कहूँगा। वह आदि रहित परम ब्रह्म अकथनीय होने से न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है। परन्तु वह सब ओर से हाथ पैरवाला एवं सब ओर से नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर से श्रोत्र वाला है, क्योंकि वह संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है, और सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला है, परन्तु वास्तव में सब इन्द्रियों से रहित है तथा आसक्ति रहित और गुणों से अतीत हुआ भी अपनी योगमाया से सबको धारण, पोषण करने वाला और गुणों को भोगने वाला है।

[भाष्य : ६-१४]

तथा वह परमात्मा चराचर सब भूतों के बाहर भीतर परिपूर्ण है और चर अचररूप भी वही है और वह सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा अति समीप में और दूर में भी स्थित वही है। और वह विभाग रहित एक रूप से आकाश के सदृश परिपूर्ण हुआ भी चराचर सम्पूर्ण भूतों में पृथक्-पृथक् के सदृश स्थित प्रतीत होता है तथा वह जानने योग्य परमात्मा विष्णु रूप से भूतों को धारण पोषण करने वाला और रुद्ररूप से संहार करने वाला तथा ब्रह्मा रूप से सबका उत्पन्न करनेवाला है। और वह ब्रह्म ज्योतियों की भी ज्योति एवं माया से अति परे कहा जाता है यथा वह परमात्मा बोध स्वरूप और जानने के योग्य है एवं तत्त्वज्ञान से प्राप्त होने वाला और सबके हृदय में स्थित है। हे अर्जुन, इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप संक्षेप में कहा गया है। इसको तत्त्व से जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है। और हे अर्जुन, प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी मेरी माया और जीवात्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञ इन दोनों को ही तू अनादि जान और राग-द्वेषादि विकारों को तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न हुए जान क्योंकि कार्य कारण के उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुख दुःखों के भोक्तापन में अर्थात् भोगने में हेतु कहा जाता है।

[भाष्य : १५-२०]

परन्तु प्रकृति में स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का संग ही इस जीवात्मा के अच्छी, बुरी योनियों में जन्म लेने में कारण है।

वास्तव में तो यह पुरुष इस देह में स्थित हुआ भी पर ही है केवल साक्षी होने से उपद्रष्ट और यथार्थ सम्मति देनेवाला होने से अनुमन्ता एवं सबको धारण करनेवाला होने से भर्ता, जीवरूप से भोक्ता तथा ब्रह्मादिकों का भी स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने से परमात्मा ऐसा कहा गया है। इस प्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य तत्त्व से जानता है वह सब प्रकार से वर्तता हुआ भी फिर नहीं जन्मता है अर्थात् पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता है। हे अर्जुन, उस परम पुरुष परमात्मा को कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धि से ध्यान के द्वारा हृदय में देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञानयोग के द्वारा देखते हैं और अपर कितने ही निष्काम कर्मयोग के द्वारा देखते हैं। परन्तु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्द बुद्धि वाले पुरुष हैं वे स्वयम् इस प्रकार न जानते हुए दूसरों से अर्थात् तत्त्व को जानने वाले पुरुषों से सुनकर ही उपासना करते हैं और वे सुनने के परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसार सागर को निःसन्देह तर जाते हैं।

[भाष्य : २१-२६]

हे अर्जुन, यावन्मात्र जो कुछ भी स्थावर, जंगम वस्तु उत्पन्न होती है उस संपूर्ण को तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न हुई जान अर्थात् प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध से ही संपूर्ण जगत् की स्थिति है।

इस प्रकार जानकर जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में नाश रहित परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है वही देखता है। क्योंकि वह पुरुष सब में समभाव से स्थित हुए परमेश्वर को समान देखता हुआ अपने द्वारा आपको नष्ट नहीं करता है। इससे वह परमगति को प्राप्त होता है। और जो पुरुष संपूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति से ही किये हुए देखता है तथा आत्मा को अकर्ता देखता है वही देखता है। और वह पुरुष जिस काल में भूतों के न्यारे न्यारे भाव को एक परमात्मा के संकल्प के आधार स्थिर देखता है तथा उस परमात्मा के संकल्प से ही संपूर्ण भूतों का विस्तार देखता है उस काल में सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त होता है। हे अर्जुन, अनादि होने से और गुणातीत होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित हुआ भी वास्तव में न कुछ करता है और न लिपायमान होंता है। जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिपायमान नहीं होता है वैसे ही सर्वत्र देह में स्थित हुआ भी आत्मा गुणातीत होने के कारण देह के गुणों से लिपायमन नहीं होता।

[भाष्य : २७-३२]

हे अर्जुन, जिस प्रकार एक ही सूर्य संपूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है इसी प्रकार एक ही आत्मा संपूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है अर्थात् नित्य बोध स्वरूप एक आत्मा की ही सत्ता से संपूर्ण जगत् प्रकाशित होता है । इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को विकार सहित प्रकृति से छूटने के उपाय को जो पुरुष ज्ञाननेत्रों द्वारा तत्त्व से जानते हैं वे महात्माजन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं ।

[भाष्य : ३३-३४]

॥ इति क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

—:०:—

त्रयोदश अध्याय : व्यवहार दर्शन

इस अध्याय में श्रीकृष्ण परमात्मा ने इस जगत् के रहस्यमय तत्त्व का वर्णन किया है। इसे गंभीरता पूर्वक समझकर प्राणी आत्म-कल्याण कर सकता है। इस जगत् में जो कुछ भी स्थावर और जङ्गम वस्तु हैं सबकी उत्पत्ति पुरुष और प्रकृति अथवा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संबन्ध से हुई है।

क्षेत्र की व्याख्या विकारों सहित—

पाँच महाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश)
पाँच विषय (गंन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द)
पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पैर, मुख, गुदा, उपस्थ)
पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (नाक, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, कान)
पाँच महत्तत्त्व (मन, अहंकार, बुद्धि, मूल प्रकृति, स्थूल पिण्ड)
पाँच विकार (इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, धृति)
एक चेतन (ब्रह्मज्योति)
३१ इनको विकारों सहित क्षेत्र कहा गया है।

ज्ञान की संक्षिप्त व्याख्या—

(१) श्रेष्ठता को अभिमान का अभाव, (२) दम्भाचरण का अभाव, (३) क्षमा (४) अहिंसा, (५) मन वाणी की सरलता, (६) श्रद्धा सहित गुरु की सेवा, (७) बाहर-भीतर की शुद्धि, (८) अन्तःकरण की स्थिरता, (९) मन और इन्द्रियां सहित शरीर निग्रह, (१०) सम्पूर्ण भोगों में आसक्ति का अभाव, (११) अहंकार

का अभाव, (१२) जन्म, मृत्यु, जरा में दुःख दोषों का विचार (१३) पुत्र, स्त्री, घर, धन में आसक्ति का अभाव, (१४) ममता का न होना, (१५) प्रिय, अप्रिय की प्राप्ति में चित्त का सम रहना, (१६) ध्यान योग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति, (१७) शुद्ध देश में रहने का स्वभाव, (१८) विषयासक्त मनुष्यों में प्रेम का अभाव (१९) अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति, (२०) परमात्मा को सर्वत्र देखना। ये ज्ञानवान के बीस लक्षणों का वर्णन है।

अज्ञान की संक्षिप्त व्याख्या—ऊपर लिखे बीस जो ज्ञान के लक्षण हैं उनके विपरीत स्वभाव को अज्ञान कहते हैं।

अनादि ब्रह्म क्षेत्रज्ञ की संक्षिप्त व्याख्या—(१) अकथनीय सत्-असत् रहित (२) सब ओर से पैर, नेत्र, शिर, मुख और श्रोत्र वाला (३) संपूर्ण इन्द्रियों को जानने वाला (४) सब ज्ञानेन्द्रियों से रहित, आसक्ति रहित (५) गुणों से अतीत सबका धारण-पोषण करने वाला, (६) सब भूतों के बाहर भीतर से परिपूर्ण, (७) चर अचर रूप, अति सूक्ष्म अविज्ञेय, (८) अति समीप और दूर में स्थित (९) विभाग रहित अखंड (१०) विष्णुरूप से पोषण (११) रुद्र रूप से संहार, (१२) ब्रह्म रूप से उत्पन्न करने वाले, (१३) ज्योतियों को भी ज्योति देनेवाला, (१४) माया से अति परे माया (रहित), (१५) बोध स्वरूप तत्त्व ज्ञान से प्राप्य (१६) सबके हृदय में स्थित रहने वाला (१७) साक्षी होने से उपद्रष्टा (१८) यथार्थ सम्मति देनेवाला अनुमन्ता (१९) सबको धारण करने वाला भर्ता (२१) ब्रह्मादिकों का स्वामी महेश्वर (२२) शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने

से परमात्मा। समझने की सहुलियत के लिये इस प्रकार संख्या देकर लिखा है वैसे ब्रह्म के असंख्य गुण हैं।

इस प्रकार क्षेत्र(प्रकृति), क्षेत्रज्ञ (ब्रह्म), ज्ञान, अज्ञान को अच्छी तरह समझकर उपासना करने की विधि :

(१) **ध्यान योग के द्वारा**–शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि से प्रभु को हृदय में देखना।

(२) **ज्ञानयोग के द्वारा**–शुद्ध अन्तःकरण हुआ सद्‌विचारों द्वारा विवेक में बोध करना।

(३) **निष्काम कर्म योग के द्वारा**–कर्मफल प्रभु को समर्पण कर फलत्याग द्वारा कर्म में प्रभु का दर्शन करना।

इस विधि के अनुसार स्वयं समझकर अथवा तत्त्ववेत्ता से अच्छी तरह समझ कर जो उपासना करते हैं वे इस मृत्युरूप संसार-सागर से तर जाते हैं अर्थात् आवागमन से मुक्त हो जाते हैं।

ऐसी उपासना करनेवाले की वृत्तियों में निम्न प्रकार का बोध होता है :

(१) नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में अविनाशी परमेश्वर को स्थित देखता है।

(२) वह संपूर्ण कर्मों को प्रकृति द्वारा किया हुआ आत्मा को अकर्ता के रूप में देखता है।

(३) वह परमात्मा के संकल्प के आधार पर सब भूतों को स्थित देखता है। और परमात्मा के संकल्प से ही सब भूतों का विस्तार देखता है।

(४) वह परमात्मा को गुणातीत हुआ शरीर में स्थित देखता है और उसे निर्लेप देखता है।

जब ऐसा बोध स्थाई रूप से हो जाता है तब वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त होता है।

इस व्यवहार दर्शन में संख्या देकर लक्षण और गुणों सहित क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान, अज्ञान को समझाया गया है। इसे धैर्य के साथ समझकर क्षेत्र अर्थात् सब भूत प्राणी, क्षेत्रज्ञ अर्थात् पूर्ण ब्रह्म परमात्मा इनकी सर्बव्यापक शक्ति को श्रद्धा विश्वास सहित दृढ़ता पूर्वक समझने से व्यक्तिगत अभिमान का स्वतः नाश हो जाता है एवं इसीको अभिमान का पूर्ण समर्पण भगवान में करना कहते हैं। इस स्थिति से जो प्रभु का स्मरण होता है उससे सब भूत-प्राणी अपने अन्तःकरण में परम आनन्द की अनुभूति करते हैं, और प्रारब्ध से प्राप्त शरीर छूटने पर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

॥ इति व्यवहार दर्शन : त्रयोदश अध्यायः ॥

—:o:—

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो
नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

—:०:—

* श्री परमात्मने नमः *

चतुर्दश अध्याय : भाष्य

श्री कृष्ण भगवान बोले—हे अर्जुन, ज्ञानों में भी अति उत्तम परम ज्ञान को मैं तेरे लिये कहूंगा कि जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसार से मुक्त होकर परम सिद्धि को प्राप्त हो गये हैं । हे अर्जुन, इस ज्ञान को धारण करके मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि के आदि में पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलय काल में भी व्याकुल नहीं होते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में मुझ वासुदेव से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं । हे अर्जुन, मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया सम्पूर्ण भूतों की योनि है अर्थात् गर्भाधान का स्थान है और मैं उस योनि में चेतनरूप बीज को स्थापन करता हूं । उस जड़ चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है तथा हे अर्जुन, नाना प्रकार की सब योनियों में जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भ को धारण करने वाली माता है और मैं बीज को स्थापन करने वाला पिता हूं । हे अर्जुन, सत्त्व गुण, रजो गुण और तमोगुण ऐसे यह प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुण इस अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं । हे निष्पाप अर्जुन, उन तीनों गुणों में प्रकाश करनेवाला निर्विकार सत्त्व गुण तो निर्मल होने के कारण सुख की आसक्ति से और ज्ञान की आसक्ति से अर्थात् ज्ञान के अभिमान से बाँधता है।

[भाष्य : १–५]

हे अर्जुन, राग रूप रजोगुण को कामना और आसक्ति से उत्पन्न हुआ जान। वह इस जीवात्मा को कर्मों की और उनके फल की आसक्ति से बाँधता है। और सर्व देहाभिमानियों के मोहने वाले तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न हुआ जान। वह इस जीवात्मा को प्रमाद (इन्द्रियाँ और अन्तःकरण की व्यर्थ चेष्टाओंका नाम प्रमाद है), आलस्य और निद्रा के द्वारा बांधता है। क्योंकि हे अर्जुन, सत्त्वगुण सुख में लगाता है और रजोगुण कर्म में लगाता है तथा तमोगुण तो ज्ञान को आच्छादन करके अर्थात् ढककर प्रमाद में भी लगाता है। और हे अर्जुन, रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है। वैसे ही तमोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर रजोगुण बढ़ता है। इसलिये जिस काल में इस देह में तथा अन्तःकरण और इन्द्रियों में चेतनता और बोध शक्ति उत्पन्न होती है उन काल में ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है। और हे अर्जुन, रजोगुण के बढ़ने पर लोभ और प्रवृत्ति अर्थात् सांसारिक चेष्टा तथा सब प्रकार के कर्मों का स्वार्थ बुद्धि से आरम्भ एवं अशान्ति अर्थात् मन की चञ्चलता और विषय भोगों की लालसा ये सब उत्पन्न होते हैं। तथा हे अर्जुन, तमोगुण के बढ़ने पर अन्तःकरण और इन्द्रियों में अप्रकाश एवं कर्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरण की मोहिनी वृत्तियाँ ये सब ही उत्पन्न होते हैं।

[भाष्य : ६-१३]

और हे अर्जुन, जब यह जीवात्मा सत्त्वगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है तब तो उत्ताम कर्म करने वालों के मलरहित अर्थात् दिव्य स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होता है। और रजोगुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त होकर कर्मों की आसक्ति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है तथा तमोगुणके बढ़ने पर मरा हुआ पुरुष कीट, पशु आदि मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है। क्योंकि सात्त्विक कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है और राजस कर्म का फल दुःख एवं तामस कर्म का फल अज्ञान कहा है। तथा सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से निःसन्देह लोभ उत्पन्न होता है तथा तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है। इसलिये सत्त्वगुण में स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकों को जाते हैं और रजोगुण में स्थित राजस पुरुष मध्य में अर्थात् मनुष्य लोक में ही रहते हैं एवं तमोगुण के कार्य रूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादि में स्थित हुए तामस पुरुष अधोगति को अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियों को प्राप्त होते हैं। और हे अर्जुन, जिस काल में द्रष्टा तीनों गुणों के सिवाय अन्य किसी को कर्त्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणों में बर्तते हैं ऐसा देखता है और तीनों गुणों से अति परे सच्चिदानन्दघन स्वरूप मुझ परमात्मा को तत्त्व से जानता है उस काल में वह पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।

[भाष्य : १४-१९]

तथा वह इन स्थूल शरीर की उत्पत्ति के करण रूप तीनों गुणों का उल्लंघन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकार के दुंःखों से मुक्त हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है। इस प्रकार भगवान के रहस्ययुक्त वचनों को सुनकर अर्जुन ने पूछा कि हे पुरुषोत्तम, इन तीनों गुणों से अतीत हुआ पुरुष किन-किन लक्षणों से युक्त होता है और किस प्रकार के आचरणों वाला होता है तथा हे प्रभु, मनुष्य किस उपाय से इन तीनों गुणों से अतीत होता है। श्री कृष्ण भगवान बोले—हे अर्जुन, जो पुरुष सत्त्वगुण के कार्य रूप प्रकाश को और रजोगुण के कार्य रूप प्रवृत्ति को, तमोगुण के कार्य रूप मोह को भी न तो प्रवृत्त होने पर बुरा समझता है और न निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा करता है। तथा जो साक्षी के सदृश स्थित हुआ गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता है और गुण ही गुणों में बर्तते हैं ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहना है एवं उस स्थिति से चलायमान नहीं होता है। और जो निरन्तर आत्म भाव से स्थित हुआ दुःख-सुख को समान समझने वाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण में समान भाव वाला और धैर्यवान् है तथा जो प्रिय और अप्रिय को बराबर समझता है और अपनी निन्दा-स्तुति में भी समान भाव वाला है।

[भाष्य : २०–२४]

तथा जो मान-अपमान में सम है एवं मित्र और बैरी के पक्ष में भी सम है वह सम्पूर्ण आरम्भों में कर्त्तापन के अभिमान से रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है। और जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तिरूप योग के द्वारा मेरे को निरन्तर भजता है वह इन तीनों गुणों को अच्छी तरह उल्लंघन करके सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव होने के लिये योग्य होता है। हे अर्जुन, उस अविनाशी परब्रह्म का और अमृत का तथा नित्य धर्म का और अखण्ड एकरस आनन्द का मैं ही आश्रय हूं, अर्थात् उपरोक्त ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वत धर्म तथा एकान्तिक सुख, ये सब मेरे ही नाम हैं, इसलिये इनका मैं परम आश्रय हूं।

[भाष्य : २५-२७]

॥ गुणत्रय विभागयोगो नाम चतुर्दशो अध्यायः ॥

—:o:—

चतुर्दश अध्याय : व्यवहार दर्शन

इस अध्याय में श्री कृष्ण परमात्मा अर्जुन को इस प्रकृति का बोध करा रहे है कि यह त्रिगुणात्मिका माया ही प्रकृति है, एवं इसमें बीज रूप से चेतन शक्ति मेरे द्वारा स्थापित होकर इस सृष्टि को चलाती है । इस प्रकृति से तीनों गुणों की उत्पत्ति हुई एवं जीवात्मा को ये गुण ही शरीर में बांधे हुए हैं ।

सत्त्वगुण-यह निर्विकार, निर्मल है एवं सुख की आसक्ति से और ज्ञान के अभिमान से अविनाशी जीवात्मा को शरीर से बांधता है । यह रजोगुण और तमोगुण को दबाकर वृद्धि को प्राप्त होता है । और जिस काल में अन्तःकरण में चेतनता और बोध शक्ति उत्पन्न होतो है उस काल में यह गुण बढ़ा हुआ है ऐसा जानना चाहिये । यह सुख और पुण्य प्राप्त करने की प्रेरणा देता है ।

रजोगुण-यह राग और कामना युक्त है एवं कर्मों की और उसके फल की आसक्ति से जीवात्मा को बांधता है । यह सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर वृद्धि को प्राप्त होता है । और जिस काल में कर्मों में लाभ और स्वार्थ बुद्धि से मन की चंचलता एपं अशान्ति उत्पन्न होती है उस काल में यह गुण बढ़ा हुआ है ऐसा जानना चाहिये । यह कर्म करने की प्रेरणा देता है ।

तमोगुण-यह अज्ञान और मोहयुक्त है और प्रमाद (इन्द्रियों की व्यर्थ चेष्टा), आलस्य, निद्रा के द्वारा जीवात्मा को बांधता है। यह सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर वृद्धि को प्राप्त होता है। और जिस काल में इन्द्रियों में अप्रकाश, कर्त्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति, अन्तःकरण में मोहिनी प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं उस समय यह गुण बढ़ा हुआ है ऐसा जानना चाहिये। यह आलस्य और निद्रा में ले जाता है।

सत्त्वगुण—इसकी वृद्धि के समय देह छोड़ने वाला व्यक्ति दिव्य स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करता है। क्योंकि सात्विक कर्म का फल सुख, ज्ञान और वैराग्य होता है और उसे भोगने के लिये उच्च लोकों को जाता है।

रजोगुण—उसकी वृद्धि के समय देह छोड़ने वाला व्यक्ति मृत्यु लोक में मनुष्य योनि को प्राप्त करता है। क्योंकि राजस कर्म का फल दुःख होता है और उसे भोगने के लिये मृत्यु लोक में आता है।

तमोगुण-इसकी वृद्धि के समय देह छोड़ने वाला जीव कीट, पशु आदि मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है। क्योंकि तमोगुण का फल अज्ञान होता है। और उसे भोगने के लिये अधोगति में उत्पन्न होता है।

और जिस काल में गुण ही गुणों में वर्तते हैं गुणों को ही, कर्त्ता मानता है, तथा तीनों गुणों से परे सच्चिदानन्दघन स्वरूप को तत्त्व से जान लेता है अर्थात् त्रिगुणातीत स्थिति जिसे तुरीय

अवस्था कहते हैं बोध कर लेता है एवं जीवन में उसीके अनुसार व्यवहार करता है ऐसा विशुद्धः जीवात्मा मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। तथा स्थूल शरीर की उत्पत्ति के कारणरूप तीनों गुणों को उल्लङ्घन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकार के दुःखों से मुक्त परम आनन्द को प्राप्त कर लेता है।

इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए सत्त्वगुण के कार्यरूप प्रकाश, रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्ति होने पर बुरा नहीं मानता और निवृत्ति होने पर आकांक्षा नहीं करता। तथा प्रिय-अप्रिय, मान अपमान, स्वर्ण और पत्थर, निन्दा-स्तुति में समभाव होकर संसार के भोग्य पदार्थों में धीरे-धीरे अभ्यास कर वासना का सर्वथा त्याग कर देवे, एवं प्रभु की सत्ता ही सर्वत्र व्यापक है ऐसा समझकर अव्यभिचारिणी भक्ति अर्थात् एकमात्र शक्ति संपन्न परमात्मा ही ईश्वर रूप से कर्त्ता है इस तथ्य पर व्यवहार काल में पूर्ण निष्ठा के द्वारा निरन्तर उपासना करने से तुरीय, गुणातीत स्थिति को प्राप्तकर ब्रह्मलीन हो जाता है।

इस प्रकार तीनों गुणों और गुणातीत स्थिति का विवेचन भगवान ने किया है।

॥ इति चतुर्दश अध्याय : व्यवहार दर्शन ॥

—:०:—

श्रीपरमात्मने नमः

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वन्द्व विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्य मूढाः पदमव्यय तत् ॥ ५ ॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं: पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥१३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो
नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

—:०:—

क्योंकि योगीजन भी अपने हृदय में स्थित हुए इस आत्मा को यत्न करते हुए तत्त्व से जानते हैं, और जिन्होंने अपने अन्तःकरण को शुद्ध नहीं किया है ऐसे अज्ञानी जन तो यत्न करते हुए भी इस आत्मा को नहीं जानते हैं। और हे अर्जुन, जो तेज सूर्य में स्थित हुआ संपूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में स्थित है और जो तेज अग्नि में स्थित है उसको तू मेरा ही तेज जान। और मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण करता हूँ और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा होकर संपूर्ण औषधियों को अर्थात् वनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ। तथा मैं ही सब प्राणियों के शरीर में स्थित हुआ वैश्वानर अग्नि रूप होकर प्राण अपान से युक्त हुआ चार प्रकार के अन्न को पचाता हूं। और मैं ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूं तथा मेरे से ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संसय, विपर्यय आदि दोषों को हटाना) होता है और सब वेदों द्वारा मैं ही जानने के योग्य हूं। वेदान्त का कर्ता और वेदों को जाननेवाला भी मैं ही हूं।

हे अर्जुन, इस संसार में नाशवान और अविनाशी ये दो प्रकार के पुरुष हैं। उनमें संपूर्ण भूत प्राणियों के शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है।

[भाष्य : ११-१६]

तथा उन दोनों से उत्तम पुरुष तो अन्य ही है जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा ऐसे कहा गया है । क्योंकि मैं नाशवान जड़वर्ग क्षेत्र से तो सर्वथा अतीत हूँ और माया में स्थित अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूं, इसलिये लोक में और वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ । हे भारत, इस प्रकार तत्त्व से जो ज्ञानी पुरुष मेरे को पुरुषोत्तम जानता है वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वर को ही भजता है । हे निष्पाप अर्जुन, ऐसे यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया इसको तत्त्व से जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है । अर्थात् उसको और कुछ भी करना शेष नहीं रहता। जो मनुष्य उक्त प्रकार से भगवान को सर्वोत्तम समझ लेता है फिर उसका मन एक क्षण भी भगवान के चिन्तन का त्याग नहीं कर सकता क्योंकि जिस वस्तु को मनुष्य उत्तम समझता है उसीमें उसका प्रेम होता है और जिसमें प्रेम होता है उसीका चिन्तन भी होता है ।

[भाष्य : १७–२०]

।। इति पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ।।

—:०:—

पञ्चदश अध्याय : व्यवहार दर्शन

इस अध्याय में पुरुषोत्तम पद को प्राप्त करने के लिये क्या करना चाहिये तथा पुरुषोत्तम पद को प्राप्त मनुष्य के क्या लक्षण होते हैं एवं पुरुषोत्तम क्या है इसे समझाया गया है।

संसार वृक्ष को विवेक द्वारा समझने का प्रयास करना चाहिए। इस वृक्ष का मूल ऊपर है तथा वेद इसके पत्ते हैं तथा अनेक शाखायें तथा जड़ें हैं। इस वृक्ष के दृष्टान्त से संसार का ज्ञान कराया गया है कि वृक्ष के आदि, अन्त का पता हो जाता है परन्तु इस संसार वृक्ष के आदि अन्त का कोई पता नहीं पड़ता। सारा संसार एक वृक्ष है तथा देव, मनुष्य और तिर्यक आदि योनियाँ इसकी शाखायें हैं। वृक्ष में जिस प्रकार जगह-जगह कोपलें (वृक्ष की शाखाओं में गढे) – अनेक प्रकार के विषय भोग हैं, और अहंता, ममता, वासना रूपी अनेक प्रकार की जड़ें संसार में बांधे रखती हैं। वेद रूपी पत्तों से शास्त्रीय ज्ञान को समझ कर दृढ़ वैराग्य द्वारा अहंता, ममता और वासना को त्याग कर पुरुषोत्तम को खोजना चाहिए।

इस पुरुषोत्तम पद को प्राप्त करने के लिये वृत्ति में मान, अपमान, सुख-दुःख में सम रहने का अभ्यास होना चाहिये तथा सांसारिक पदार्थों में मोह और आसक्ति का सर्वथा त्याग करके नित्य सर्वव्यापक चेतन, जो अपने शरीर में भी है, का चिन्तन करना चाहिये। इससे परम पद की प्राप्ति होती है।

यह परमपद, पुरुषोत्तम स्वयं प्रकाशमय है। इसके प्रकाश से सूर्य, चन्द्र प्रकाशित होते हैं। इस शरीर में यह जीवात्मा पुरुषोत्तम का ही अंश है। तीन गुणों में स्थित मन और पांचों इन्द्रियों को यह आकर्षित करता है एवं देह छोड़ने पर मन सहित सूक्ष्म इन्द्रियों और किये हुए कर्म फलों को लेकर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है जिस प्रकार वायु गन्ध को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है। ऐसे परम शक्तिशाली तत्त्व को योगी-जन यत्न करके जानते हैं। सारे भूत प्राणी नाशवान हैं और यह जीवात्मा अविनाशी है और इन दोनों से उत्तम तीनों लोकों में व्याप्त सब का धारण पोषण करने वाला वेद में और लोक में पुरुषोत्तम नाम से कहा जाता है।

इसे जो ज्ञानवान व्यक्ति तत्त्व से जानता है वह कृतार्थ हो जाता है। संसार के सारे विषय-आनन्द, उसे फीके मालूम पड़ते हैं। वह जीवन धारण के लिये, अथवा इस मायिक शरीर की रक्षा के लिये मायिक पदार्थों को ग्रहण करता है परन्तु वृत्ति सदा-सर्वदा उस परमतत्त्व पुरुषोत्तम में लगी रहती है। वह चिन्ता रहित और प्रसन्न रहता है।

इसके सार तत्त्व को साधक जन इस प्रकार समझें कि इस संसार में मनुष्य का बंधन अहंता, ममता और वासना से होता है। इसलिये वह संसार के विषयों में उत्पन्न वासनाओं को त्याग के द्वारा निवृत्त करने की निरन्तर चेष्टा करता रहे। ऐसा करने

से उसे सत्-चित्-आनन्द का अनुभव धीरेधीरे हो जायेगा। वह संसार में सब भूत प्राणियों की तरह ही व्यवहार करता है, परन्तु अन्तर में बहुत बड़ा फरक रहता है। वह ज्ञानी पुरुष संसार का व्यवहार करते हुए भी किसी में लिपायमान नहीं रहता और अपनी आत्मा में ही आप संतुष्ट रहता है। क्योंकि उसने परमात्मा के स्वरूप को इस प्रकार जान लिया है कि सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा क्रिया शक्ति में जो तेज है वह सब प्रभु की ही शक्ति है। इस प्रकार व्यापक शक्ति में दृढ़ विश्वास होने के कारण व्यक्ति शक्ति, की वास्तविकता को अच्छी तरह जान लेता है एवं व्यवहार काल में उसमें दीनता रहती है। उसका व्यवहार बड़ा मधुर एवं वाणी में मीठास होता है। सब भूत प्राणी स्वभाव से ही उनके परमार्थ भाव से आकृष्ट हो जाते हैं, इसे परमपद पुरुषोत्तम योग को प्राप्त कर लेना कहते हैं।

॥ इति व्यवहार दर्शन : पञ्चदश अध्याय ॥

—:०:—

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥
दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो
नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

—:o:—

* ॐ श्री परमात्मने नमः *

षोडश अध्याय : भाष्य

श्री कृष्ण भगवान ने कहा-हे अर्जुन, दैवीसंपदा जिन पुरुषों को प्राप्त है तथा आसुरी संपदा जिनको प्राप्त है उनके लक्षण पृथक्-पृथक् कहता हूँ। उनमें से सर्वथा भय का अभाव, अन्तः-करण की स्वच्छता, तत्त्व ज्ञान के लिये ध्यान योग में निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्विक दान तथा इन्द्रियों का दमन, भग-वत्पूजा, उत्तम कर्मों का आचरण और वेद शास्त्रों के पठन-पाठन-पूर्वक भगवान के नाम और गुणों का कीर्तन तथा स्व-धर्म पालन के लिये कष्ट सहन करना, शरीर और इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता तथा अहिंसा (मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना), सत्य (यथार्थ और प्रिय भाषण), क्रोध का न होना, कर्मों में कर्त्तापन के अभिमान का त्याग एवं शान्ति (अन्तःकरण की-उपरामता), किसी की भी निन्दादि न करना तथा सब भूत प्राणियों में हेतु रहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी आसक्ति का न होना और कोमलता तथा लोक और शास्त्र विरुद्ध आचरणों में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव।

[भाष्य : १-२]

तथा तेज, क्षमा, धैर्य और बाहर भीतर की शुद्धि एवं किसी में भी शत्रु-भाव का न होना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव ये सब तो हे अर्जुन, दैवी संपदा को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं। और हे पार्थ, पाखण्ड और अभिमान तथा क्रोध और कठोर वाणी एवं अज्ञान ये सब आसुरी संपदा को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं। उन दोनों प्रकार की सम्पदाओं में दैवी संपदा तो मुक्ति के लिये और आसुरी संपदा बांधने के लिये मानी गयी है। इसलिये हे अर्जुन, तू शोक मत कर क्योंकि तू दैवी संपदा को प्राप्त हुआ है। और हे अर्जुन, इस लोक में भूतों के स्वभाव दो प्रकार के माने गये हैं—एक तो देवों के जैसा और दूसरा असुरों के जैसा। उनमें देवों का स्वभाव ही विस्तार पूर्वक कहा गया है। इसलिये अब असुरों के स्वभाव को भी विस्तार पूर्वक मेरे से सुन। हे अर्जुन, आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य कर्त्तव्य कार्य में प्रवृत्त होने को और अकर्तव्य कार्य से निवृत्त होने को भी नहीं जानते हैं। इसलिये उनमें न तो बाहर भीतर की शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्य भाषण ही है।

तथा वे आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य कहते हैं कि जगत् आश्रय रहित और सर्वदा झूठा एवं बिना ईश्वर के अपने आप स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है। इसलिये केवल भोगों को भोगने के लिये ही है इसके सिवाय और क्या है।

[भाष्य : ३-८]

इस प्रकार इस मिथ्या ज्ञान को अवलम्बन करके नष्ट हो गया है स्वभाव जिनका तथा मन्द है बुद्धि जिनकी ऐसे वे सबका अपकार करनेवाले क्रूर कर्मी मनुष्य केवल जगत् का नाश करने के लिये ही उत्पन्न होते हैं। और वे मनुष्य दम्भ, मान और मद से युक्त हुए किसी प्रकार भी न पूर्ण होनेवाली कामनाओं का आसरा लेकर तथा अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणों से युक्त हुए संसार में वर्तते हैं।

तथा वे मरणपर्यन्त रहने वाली अनन्त चिन्ताओं को आश्रय किये हुए और विषय भोगों के भोगने में तत्पर हुए एवं इतना मात्र ही आनन्द है ऐसे मानने वाले हैं। इसलिये आशारूप सैकड़ों फांसियों से बंधे हुए और काम क्रोध के परायण हुए विषय भोगों की पूर्ति के लिये अन्याय पूर्वक धनादि बहुत से पदार्थों को संग्रह करने की चेष्टा करते हैं। और उन पुरुषों के विचार इस प्रकार होते हैं कि-मैंने आज यह तो पाया है और इस मनोरथ को प्राप्त होऊंगा तथा मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह होवेगा।

तथा वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूँगा तथा मैं ईश्वर और ऐश्वर्य को भी भोगने वाला हूँ और मैं सब सिद्धियों से युक्त एवं बलवान और सुखी हूँ।

[भाष्य : ९-१४]

तथा मैं बड़ा धनवान और बढ़ कुटुम्बवाला हूं, मेरे समान दूसरा कौन है। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, हर्ष को प्राप्त होऊँगा। इस प्रकार के अज्ञान से मोहित हैं इसलिये वे अनेक प्रकार से भ्रमित हुये चित्तवाले अज्ञानीजन मोह रूप जाल में फँसे हुए एवं विषय-भोगों में अत्यन्त आसक्त हुए महान् अपवित्र नरक में गिरते हैं। तथा वे अपने आपको ही श्रेष्ठ मानने वाले घमण्डी पुरुष धन और मान के मद से युक्त हुए शास्त्रविधि से रहित केवल नाम मात्र के यज्ञों द्वारा पाखण्ड से भजन करते हैं। तथा वे अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादि के परायण हुए एवं दूसरों की निन्दा करने वाले पुरुष अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ अन्तर्यामी से द्वेष करने वाले हैं। ऐसे उन द्वेष करने वाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमों को मैं संसार में बारम्बार आसुरी योनियों में ही गिराता हूं अर्थात् शूकर, कूकर आदि नीच योनियों में ही उत्पन्न करता हूँ। इसलिये हे अर्जुन, वे मूढ़ पुरुष जन्म, जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त हुए मेरे को न प्राप्त होकर उससे भी अति नीच गति को ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकों में पड़ते हैं।

और हे अर्जुन! काम, क्रोध तथा लोभ ये तीन प्रकार के नरक के द्वार आत्मा का नाश करने वाले हैं अर्थात् अधोगति में ले जाने वाले हैं। इससे इन तीनों को त्याग देना चाहिये।

[भाष्य : १५–२१]

सब अनर्थों के मूल और नरक की प्राप्ति में हेतु होने से यहाँ काम, क्रोध और लोभ को नरक का द्वार कहा है क्योंकि हे अर्जुन, इन तीनों नरक के द्वारों से मुक्त हुआ अर्थात् काम, क्रोध, और लोभ आदि विकारों से छूटा हुआ पुरुष अपने कल्याण का आचरण करता है अर्थात् अपने उद्धार के लिये शास्त्र की आज्ञानुसार वर्तता है। इससे वह परम गति को जाता है अर्थात् मेरे को प्राप्त होता हैं। और जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्याग कर अपनी इच्छा से वर्तता है वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है और न परम गति को तथा न सुख को ही प्राप्त होता है। इससे तेरे लिये इस कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है ऐसा जानकर तू शास्त्र विधि अर्थात् मृदु और हितकारक भाव से नियत किये कर्म को ही करने के लिये योग्य है।

[भाष्य २२: -२४]

।। दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ।।

—:०:—

षोडश अध्याय : व्यवहार दर्शन

इस अध्याय में श्री कृष्ण परमात्मा अर्जुन को क्या कर्त्तव्य है तथा क्या अकर्त्तव्य है इसको विस्तार पूर्वक समझाते हुये कहते हैं कि संसार में दो प्रकार की संपदाएँ हैं—एक का नाम दैवी संपदा है और दूसरी का आसुरी संपदा। जो आसुरी संपदा वाले व्यक्ति हैं उन्हे प्रयत्न करके दैवी संपदा प्राप्त करनी चाहिये। जो दैवी संपदा युक्त हैं उन्हें उसकी रक्षा करनी चाहिये। दैवी संपदा की वृद्धि से संसार-सुख बढ़ता है, आसुरी संपदा की वृद्धि से दुःख बढ़ता है एवं संसार के महा प्रलय की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। दैवी संपदा की रक्षा करने में कुटुम्ब अथवा सम्बन्धी बाधक हों तो भी उसकी रक्षा करनी चाहिये। यही जीव का कर्त्तव्य-कर्म शास्त्र विहित कहा गया है। इसके विपरीत आचरण करने वाला कर्तव्यच्युत कहलाता है एवं लोक और परलोक दोनों को नष्ट कर लेता है। दैवी संपदा प्राप्त व्यक्ति के लक्षण क्रमशः इस प्रकार होते हैं—(१) सर्वथा भय का अभाव (२) अन्तःकरण की स्वच्छता (३) तत्त्वज्ञान के लिये ध्यान योग में दृढ़ स्थिति (४) सात्त्विक दान (५) इन्द्रियों का दमन (६) भगवत् पूजा (७) उत्तम कर्मों का आचरण (८) भगवान के नाम और गुणों का कीर्तन (९) स्वधर्म पालन (१०) अन्तःकरण की सरलता (११) अहिंसा (१२) सत्य (१३) अक्रोध (१४) कर्तापन के अभिमान का त्याग (१५) अन्तःकरण की उपरामता (शान्ति) (१६) निन्दादि न करना (१७) हेतु रहित दया (१८) विषय संयोग मिलने पर

भी आसक्ति का न होना (२०) अशास्त्रीय आचरण में लज्जा और (२१) व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव।

आसुरी संपदा प्राप्त व्यक्ति के लक्षण दैवी संपदा प्राप्त व्यक्ति से विपरीत आचरण वाला होता है और वह पाखण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोर वाणी और अज्ञान से युक्त व्यवहार संसार में करता है।

आसुरी सम्पदा प्राप्त व्यक्ति संसार को स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ मानता है तथा विपय भोगों को ज्यादा से ज्यादा किस प्रकार भोगा जाय इसका प्रयत्न करता रहता है और संसार में जो कुछ करता है अपने स्वार्थ साधन के लिये ही करता है और अपने को ही शक्तिवान, बलवान, चतुर और यहां तक कि भगवान भी अपने आप को समझने लगता है जैसे हिरण्यकश्यपु, रावण, कंस इत्यादि थे। आसुरी संपदा से युक्त व्यक्ति पृथ्वी पर भार रूप हो जाते हैं। इसलिये आत्म निरीक्षण कर देखना चाहिये और ऐसे अवगुणों को चेष्टा कर दूर करना चाहिये। दैवी सम्पदा के २१ लक्षण जो इसमें बताये गये हैं उनमें से किसी एक को अपना आधार बनाकर भगवत् शरणगति का प्रयास निरन्तर करना चाहिये। इससे इस लोक में सुख और शान्ति पूर्वक जीवन निर्वाह होगा एवं शरीर छूटने पर परम शान्ति को प्राप्त करेगा।

॥ इति व्यवहार दर्शन : षोड़श अध्याय: ॥

—:०:—

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्य-
सुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या
आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥
दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिता पुरा ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

—:०:—

* श्री परमात्मने नमः *

सप्तदश अध्याय : भाष्य

इस प्रकार भगवान के वचनों को सुनकर अर्जुन बोला— हे कृष्ण, जो मनुष्य शास्त्र विधि को त्याग करके केवल श्रद्धा से युक्त देवादिकों का पूजन करते हैं उनकी स्थिति फिर कौन सी है, सात्त्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी है। श्रीकृष्ण भगवान ने कहा—हे अर्जुन, मनुष्यों को वह बिना शास्त्रीय संस्कारों के केवल स्वभावों से उत्पन्न हुई श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी, तथा तामसी ऐसे तीनों प्रकार की होती है उसको तू मेरे से सुन। हे भारत, सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धामय है। इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है वह स्वयम् भी वही है अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है वैसा ही उसका स्वरूप है। उनमें सात्त्विक पुरुष तो देवों को पूजते हैं और राजस पुरुष यक्ष एवं राक्षसों को पूजते हैं तथा अन्य जो तामस मनुष्य है वे प्रेत और भूतगणों को पूजते हैं। और हे अर्जुन, जो मनुष्य शास्त्र विधि से रहित केवल मनःकल्पित घोर तप को तपते हैं तथा दम्भ और अहंकार से युक्त एवं कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से भी युक्त हैं तथा जो शरीररूप से स्थित भूत समुदाय को और अन्तःकरण में स्थित मुझ अन्तर्यामी को भी कृश करनेवाले हैं उन अज्ञानियों को तू आसुरी स्वभाव वाले जान।

[भाष्य : १–६]

और हे अर्जुन, जैसे श्रद्धा तीन प्रकार की होती है वैसे ही भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार का प्रिय होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-प्रकार के होते हैं। उनके इन न्यारे-न्यारे भेदों को तू मेरे से सुन। आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले एवं रसयुक्त चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय लगे ऐसे आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ तो सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं। और कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त और अति गरम तथा तीक्ष्ण रूखे और दाहकारक एवं दुःख, चिन्ता और रोगों को उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ राजस पुरुष को प्रिय होते हैं। तथा जो भोजन अधपका, रस रहित और दुगन्धियुक्त एवं बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है वह भोजन तामस पुरुष को प्रिय होता है। और हे अर्जुन, जो यज्ञ शास्त्र विधि से नियत किया हुआ है तथा करना ही कर्तव्य है ऐसे मन को समाधान करके फल को न चाहने वाले पुरुषों द्वारा किया जाता है वह यज्ञ तो सात्त्विक है।

और हे अर्जुन, जो यज्ञ केवल दम्भाचरण के लिये अथवा फल को भी उद्देश्य रख कर किया जाता है उस यज्ञ को तू राजस जान। तथा शास्त्र विधि से हीन और अन्न दान से रहित एवं बिना मन्त्र के, बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के किये हुए यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं।

[भाष्य : ७-१३]

तथा हे अर्जुन, देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन एवं पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीर सम्बन्धी तप कहा जाता है। तथा जो उद्वेग को न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है और जो वेदशास्त्रों के पढ़ने का एवं परमेश्वर के नाम जपने का अभ्यास है, वह निःसन्देह वाणी सम्बन्धी तप कहा जाता है । तथा मन की प्रसन्नता और शान्त भाव एवं भगवत् चिन्तन करने का स्वभाव मन का निग्रह और अन्तःकरण की पवित्रता ऐसे यह मन संबन्धी तप कहा जाता है। परन्तु हे अर्जुन, फल को न चाहनेवाले निष्कामी योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किये हुए उस पूर्वोक्त तीनों प्रकार के तप को तो सात्विक कहते हैं। और जो तप, सत्कार, मान और पूजा के लिये अथवा केवल पाखण्ड से ही किया जाता है वह अनिश्चित और क्षणिक फल वाला तप यहां राजस कहा गया है।

और जो तप मूढ़ता पूर्वक हठ से मन, वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है वह तप तामस कहा गया है । और हे अर्जुन, दान देना ही कर्तव्य है ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर प्रत्युपकार न करने वाले के लिये दिया जाता है वह दान तो सात्त्विक कहा गया है। और जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन अथवा फल को उद्देश्य रखकर फिर दिया जाता है वह दान राजस कहा गया है ।

[भाष्य : १४-२१]

और जो दान बिना सत्कार किये अथवा तिरस्कार पूर्वक अयोग्य देश काल में कुपात्रों के लिये दिया जाता है वह दान तामस कहा गया है। और हे अर्जुन, ॐ तत् सत् ऐसे यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का नाम कहा है। उसीसे सृष्टि के आदिकाल में ब्रह्मा और वेद तथा यज्ञादिक रचे गये हैं। इसलिये वेद को कथन करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों की शास्त्र विधि से नियत की हुई यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा ॐ ऐसे इस परमात्मा के नाम को उच्चारण करके ही आरम्भ होती है। और तत् अर्थात् तत् नाम से कहे जाने वाले परमात्मा का ही यह सब है ऐसे इस भाव से फल को न चाहकर नाना प्रकार की यज्ञ, तपरूप क्रियाएं तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याण की इच्छा वाले पुरुषों द्वारा की जाती है। और सत् ऐसे यह परमात्मा का नाम सत्य भाव में और श्रेष्ठ भाव में प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ, उत्तम कर्म में भी सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है। तथा यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है वह भी सत् है ऐसे कही जाती है और उस परमात्मा के अर्थ किया हुआ कर्म निश्चय पूर्वक सत् है ऐसे कहा जाता है और हे अर्जुन, बिना श्रद्धा के होमा हुआ हवन तथा दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है वह समस्त असत् ऐसे कहा जाता है। [भाष्य : २२-२८]

॥ इति श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्याय॥

—:o:—

सप्तदश अध्याय : व्यवहार दर्शन

इस अध्याय में श्री कृष्ण परमात्मा ने अर्जुन के यह प्रश्न करने पर कि श्रद्धा सहित परन्तु शास्त्र विधि से रहित कर्म करने वाले की क्या स्थिति होती है श्री कृष्ण भगवान ने कहा–श्रद्धा भी तीन प्रकार की अपने-अपने स्वभाव के अनुसार होती है, क्योंकि यह पुरुष श्रद्धामय है जैसा जिसका अन्तःकरण है वैसी उसकी श्रद्धा होती है। सात्त्विकी श्रद्धा से युक्त व्यक्ति का अन्तःकरण पवित्र होता है एवं वह स्वभाव से ही जो कर्म करता है वह शास्त्र विधि के अनुसार ही होता है।

सात्त्विकी श्रद्धा युक्त पुरुष के लक्षण—

(१) **पूजन**—वह देवताओं का पूजन करता है। (२) **भोजन**–आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य और प्रीति को बढ़ाने वाले रस युक्त चिकने और स्वभाव से ही मन को प्रिय लगें ऐसे पदार्थों को वह ग्रहण करता हैं। (३) **यज्ञ**—शास्त्र विधि से नियत, कर्म करना ही कर्त्तव्य है, ऐसे मन को स्थिर कर वह निष्काम भाव से करता है, (४) **तप**–तन, वाणी और मन, ये तीन प्रकार का होता है। जिसमें देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा, शरीर का तप तथा प्रिय, हितकारक, यथार्थ

भाषण, शास्त्र अध्ययन, परमेश्वर के नाम जप का अभ्यास, वाणी सम्बन्धी तप तथा मन की प्रसन्नता, पवित्रता और निग्रह, शान्त भाव, भगवत् चिन्तन ये मन सम्बन्धी तप सात्विकी श्रद्धायुक्त व्यक्ति करता है। दान–देना ही कर्त्तव्य है ऐसे भाव से देश, काल, पात्र और प्रत्युपकार की भावना छोड़कर देता है। ये सब सात्त्विकी श्रद्धा से युक्त पुरुष के लक्षण हैं एवं उत्तम हैं।

रजोगुण श्रद्धा युक्त पुरुष के लक्षण —

(१) **पूजन**-यक्ष और राक्षसों को पूजते हैं अर्थात् सिर्फ निजी स्वार्थ पूर्ति के लिये ही पूजन करते हैं। (२)**भोजन**—कड़वे, खट्टे, अतिलवण युक्त, अति गरम तथा तीक्ष्ण रूखे और दाहकारक चिन्ता युक्त स्थिति में ग्रहण करते हैं। (३)**यज्ञ**-दम्भाचरण के लिये और फल को उद्देश्य रख कर करते हैं। (४) **तप**-सत्कार, मन और पूजा के लिये पाखंड से करता है। (५) दान—प्रत्युपकार की भावना से तथा क्लेश पूर्वक और फल की इच्छा रख कर करता है। ये सब राजस श्रद्धा से युक्त पुरुष के लक्षण हैं एवं मध्यम कोटि की श्रद्धा है।

तमोगुण श्रद्धा युक्त पुरुष के लक्षण—

(१) **पूजन**–प्रेत और भूतों का करते हैं अर्थात् अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये दूसरे के अनिष्ट हेतु पूजा करते हैं। (२) **भोजन**-अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त एवं बासी भोजन प्रिय लगता है। (३) **यज्ञ**-शास्त्र विधि से हीन, अन्नदान से रहित एवं बिना मंन्त्र के, बिना दक्षिणा

के अश्रद्धा से करता है। (४) तप--मूर्खता पूर्वक, हठ से मन, बाणी और शरीर की पीड़ा के सहित दूसरे का अनिष्ट करने के लिये करता है। (५) दान-तिरस्कार पूर्वक अयोग्य देश, काल में कुपात्र को देता है। ये सब तामस श्रद्धा से युक्त पुरुष के लक्षण हैं एवं नीचे दरजे की श्रद्धा है।

जीव को अपने कल्याण के लिये ॐ तत् सत् जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का नाम है सात्त्विकी श्रद्धा सहित स्मरण करके पूजन, भोजन, यज्ञ, दान और तप शास्त्र विधि पूर्वक कर्त्तव्य समझकर करते रहना चाहिये। इसके विपरीत रजोगुण और तमोगुणी श्रद्धायुक्त कर्म करने से वह न तो इस लोक में लाभदायक है और न मरने के पश्चात् ही लाभ दायक है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि पवित्र अन्तःकरण से अथवा मन का मैल शुद्ध कर सच्चिदानन्दघन परमात्मा के नाम का निरन्तर चिन्तन करता हुआ निष्काम भाव से केवल परमेश्वर के लिए शास्त्र विधि से नियत किये हुए कर्मों को परम श्रद्धा और उत्साह सहित आचरण करता रहे। इससे पुण्य की वृद्धि होती है एवं इहलोक और परलोक में सुख प्राप्त होता है।

॥ इति सप्तदश अध्याय : व्यवहार दर्शन ॥

—:o:—

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथाष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परीकीर्तितः ॥ ७ ॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥
पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १६ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥
सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तःशुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो
नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

—:o:—

* ॐ श्री परमात्मने नमः *

अष्टादश अध्याय : भाष्य

अर्जुन ने कहा–हे महाबाहो, हे अन्तर्यामिन्, हे वासुदेव, मैं संन्यास और त्याग के तत्त्व को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूं। श्री भगवान ने कहा–हे अर्जुन, कितने ही पण्डित जन तो काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास जानते हैं, विचार कुशल पुरुष सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं। तथा कई एक विद्वान ऐसे कहते हैं कि कर्म सभी दोष-युक्त हैं इसलिये त्यागने के योग्य हैं और दूसरे विद्वान ऐसे कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप रूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं। परन्तु हे अर्जुन, उस त्याग के विषय में तू मेरे निश्चय को सुन। हे पुरुषश्रेष्ठ, वह त्याग सात्त्विक, राजस और तामस ऐसे तीनों प्रकार का ही कहा गया है। तथा यज्ञ, दान और तप रूप कर्म त्यागने योग्य नहीं है, किन्तु वह निःसन्देह करना कर्त्तव्य है क्योंकि यज्ञ, दान और तप ये तीनों ही बुद्धिमान पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं। इसलिये हे पार्थ, यह यज्ञ, दान और तप रूप कर्म तथा और भी संपूर्ण श्रेष्ठ कर्म आसक्ति को और फलों को त्यागकर अवश्य करना चाहिये ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।

[भाष्य : १–६]

और हे अर्जुन, नियत कर्म का त्याग करना योग्य नहीं है, इसलिये मोह से उसका त्याग करना तामस त्याग कहा गया है। और यदि कोई मनुष्य जो कुछ कर्म है वह सब ही दुःख रूप है ऐसे समझकर शारीरिक क्लेश के भय से कर्मों का त्याग कर दे तो वह पुरुष उस राजस त्याग को करके भी त्याग के फल को प्राप्त नहीं होता है। और हे अर्जुन, करना कर्त्तव्य है ऐसे समझकर ही जो शास्त्रविधि से नियत किया हुआ कर्त्तव्य कर्म आसक्ति को और फल को त्याग कर किया जाता है वह ही सात्विक त्याग माना गया है। और जो पुरुष अकल्याण कारक कर्म से तो द्वेष नहीं करता है और कल्याण कारक कर्म में आसक्त नहीं होता है वह शुद्ध सत्त्वगुण से युक्त हुआ पुरुष संशय रहित ज्ञानवान और त्यागी है। क्योंकि देहधारी पुरुष के द्वारा संपूर्णता से सब कर्म त्यागे जाने को शक्य नहीं है। इससे जो पुरुष कर्मों के फ़ल का त्यागी है वह ही त्यागी है ऐसे कहा जाता है। तथा सकामी पुरुषों के कर्म का ही अच्छा, बुरा और मिला हुआ ऐसे तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात् भी होता है और त्यागी पुरुषों के कर्मों का फल किसी काल में भी नहीं होता।

और हे महाबाहो, संपूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिये ये पाँच हेतु सांख्य सिद्धान्त में कहे गये हैं उनको तू मेरे से भली तरह जान।

[भाष्य : ७-१३]

और हे अर्जुन, इस विषय में आधार और कर्ता तथा न्यारे-न्यारे कारण और नाना प्रकार की न्यारी-न्यारी चेष्टाएँ एवं वैसे ही पाँचवां हेतु दैव कहा गया है। क्योंकि मनुष्य मन, वाणी और शरीर से शास्त्र के अनुसार अथवा विपरीत भी जो कुछ कर्म आरम्भ करता है उसके ये पाँचों ही कारण हैं। परन्तु ऐसा होने पर भी जो पुरुष अशुद्ध बुद्धि होने के कारण उस विषय में केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा को कर्ता देखता है, वह मलिन बुद्धि वाला अज्ञानी यथार्थ नहीं देखता है। और हे अर्जुन, जिस पुरुष के अन्तःकरण में मैं करता हूं ऐना भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में और संपूर्ण कर्मों में लिपायमान नहीं होती वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न तो मारता है और न पाप से बंधता है। तथा हे भारत! ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय यह तीनों तो कर्म के प्रेरक हैं अर्थात् इन तीनों के संयोग से तो कर्म में प्रवृत्त होने की इच्छा उत्पन्न होती है और कर्ता, कारण और क्रिया ये तीनों कर्म के संग्रह हैं अर्थात् इन तीनों के संयोग से कर्म बनता है।

उन सब में ज्ञान और कर्म तथा कर्ता भी गुणों के भेद से सांख्य शास्त्र में तीन-तीन प्रकार से कहे गये हैं उनको भी तू मेरे से भली तरह सुन। हे अर्जुन, जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी परमात्म-भाव को विभाग रहित समभाव से स्थित देखता है उस ज्ञान को तो तू सात्त्विक जान।

[भाष्य : १४-२०]

और जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य संपूर्ण भूतों में अनेक भावों को न्यारा-न्यारा करके जानता है उस ज्ञान को तू राजस जान। और जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीर में ही संपूर्णता के सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला तत्त्व अर्थ से रहित और तुच्छ है वह ज्ञान तामस कहा गया है। तथा हे अर्जुन, जो कर्म शास्त्र विधि से नियत किया हुआ और कर्तापन के अभिमान से रहित फल को न चाहने वाले पुरुष द्वारा बिना राग द्वेष से किया हुआ है वह कर्म तो सात्त्विक कहा जाता है। और जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त है तथा फल को चाहने वाले और अहंकार युक्त पुरुष द्वारा किया जाता है वह कर्म राजस कहा गया है। तथा जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचार कर केवल अज्ञान से आरम्भ किया जाता है वह कर्म तामस कहा जाता है।

तथा हे अर्जुन, जो कर्ता आसक्ति रहित और अहंकार के वचन न बोलनेवाला धैर्य और उत्साह से युक्त एवं कार्य के सिद्ध होने और न होने में हर्ष, शोकादि विकारों से रहित है वह कर्ता तो सात्त्विक कहा जाता है। और जो आसक्ति से युक्त कर्मों के फल को चाहने वाला और लोभी है तथा दूसरों को कष्ट देने के स्वभाव वाला अशुद्धाचारी और हर्ष, शोक से लिपायमान है वह कर्ता राजस कहा गया है।

[भाष्य : २१-२७]

तथा जो विक्षेपयुक्त चित्तवाला शिक्षा से रहित घमण्डी, धूर्त और दूसरे की आजीविका का नाशक एवं शोक करने के स्वभाव वाला आलसी और दीर्घसूत्री है वह कर्ता, तामस कहा जाता है। तथा हे अर्जुन, तू बुद्धि का और धारण शक्ति का भी गुणों के कारण तीन प्रकार का भेद संपूर्णता से विभागपूर्वक मेरे से कहा हुआ सुन। हे पार्थ प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को तथा बन्धन और मोक्ष को जो बुद्धि तत्त्व से जानती है वह बुद्धि तो सात्त्विकी है।

और हे पार्थ, जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को भी यथार्थ नहीं जानता है वह बुद्धि राजसी है। और हे अर्जुन, जो तमोगुण से आवृत्त हुई बुद्धि अधर्म को धर्म ऐसा मानती है तथा और भी सम्पूर्ण अर्थों को विपरीत ही मानती है, वह बुद्धि तामसी है। और हे पार्थ, ध्यान योग के द्वारा जिस अव्यभिचारिणी धारणा से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है वह धारणा तो सात्त्विकी है। और हे पृथापुत्र अर्जुन, फल की इच्छा वाला मनुष्य अति आसक्ति से जिस धारणा के द्वारा धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है वह धारणा राजसी है। तथा हे पार्थ, दुष्ट बुद्धि वाला मनुष्य जिस धारणा के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःख को एवं उन्मतता को भी नहीं छोड़ता है, अर्थात् धारण किये रहता है वह धारणा तामसी है।

[भाष्य : २८-३५]

हे अर्जुन, अब सुख भी तू तीन प्रकार का मेरे से सुन। हे भरत श्रेष्ठ, जिस सुख में साधक पुरुष भजन, ध्यान और सेवादि के अभ्यास से रमण करता है और दुःखों के अन्त को प्राप्त होता है वह सुख प्रथम साधन के आरम्भ काल में यद्यपि विष के सदृश भासता है परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य है। इसलिये जो भगवत् विषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न हुआ सुख है वह सात्त्विक कहा गया है। और जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है वह यद्यपि भोगकाल में अमृत के सदृश भासता है परन्तु परिणाम में विष के सदृश है, इसलिये वह सुख राजस कहा गया है। तथा जो सुख भोग काल में और परिणाम में भी आत्मा को मोहनेवाला है वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है। और हे अर्जुन, पृथ्वी में या स्वर्ग में अथवा देवताओं में ऐसा वह कोई भी प्राणी नहीं है कि जो इन प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुणों से रहित हो क्योंकि यावन्मात्र सर्व जगत् त्रिगुणमयी माया का ही बिकार है। इसलिये हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के तथा शूद्रों के भी कर्म स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों करके विभक्त किये गये हैं। अन्तःकरण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, बाहर भीतर की शुद्धि, धर्म के लिये कष्ट सहन करना, क्षमा भाव एवं मन, इन्द्रियों और शरीर की सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्र विषयक ज्ञान और परमात्म तत्त्व का अनुभव भी ये तो ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

[भाष्य : ३६–४२]

और शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध से भी न भागने का स्वभाव एवं दान और स्वामीभाव ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं। तथा खेती, गौ पालन और क्रय-विक्रय रूप, सत्य व्यवहार ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं, और सब वर्णों की सेवा करना यह शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है। एवं इस अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य भगवत् प्राप्ति रूप परम सिद्धि को प्राप्त होता है परन्तु जिस प्रकार से अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है उस विधि को तू मेरे से सुन। हे अर्जुन, जिस परमात्मा से सर्व भूतों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है उस परमेश्वर को अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है। इसलिये अच्छी तरह आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से गुण रहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए स्वधर्म रूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता। अतएव हे कुन्तीपुत्र, दोषयुक्त भी स्वाभाविक कर्म को नहीं त्यागना चाहिये क्योंकि धूएं से अग्नि के सदृश सब ही कर्म किसी न किसी दोष से आवृत्त हैं।

तथा हे अर्जुन, सर्वत्र आसक्ति रहित बुद्धिवाला स्पृहा रहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष सांख्ययोग के द्वारा भी परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त होता है।

[भाष्य : ४३–४९]

इसलिये हे कुन्तीपुत्र, अन्तःकरण की शुद्धि रूप सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जैसे सांख्य योग के द्वारा सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त होता है तथा जो तत्त्वज्ञान की परानिष्ठा है उसको भी तू मेरे से संक्षेप में जान। हे अर्जुन, विशुद्ध बुद्धि से युक्त एकान्त और शुद्ध देश का सेवन करने वाला तथा मिताहारी, जीते हुए मन, वाणी, शरीरवाला और दृढ़ वैराग्य को भले प्रकार प्राप्त हुआ पुरुष निरन्तर ध्यानयोग के परायण हुआ सात्विक धारणा से अन्तःकरण को वश में करके तथा शब्दादिक विषयों को त्याग कर और राग द्वेषों को नष्ट करके तथा अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध, और संग्रह को त्याग कर ममता रहित और शान्त अन्तःकरण हुआ सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव होने के लिये योग्य होता है। फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव से स्थित हुआ प्रसन्न चित्तवाला पुरुष न तो किसी वस्तु के लिये शोक करता है और न किसी से आकांक्षा ही करता है एवं सब भूतों में समभाव हुआ मेरी पराभक्ति को प्राप्त होता है ।

और मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परमपद को प्राप्त हो जाता है। इसलिये हे अर्जुन, तू सब कर्मों को मन से मेरे में अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्व बुद्धि रूप निष्काम कर्मयोग को अवलम्बन करके निरन्तर मेरे में चित्तवाला हो ।

[भाष्य : ५०–५७]

इस प्रकार तू मेरे में निरन्तर मनवाला हुआ मेरी कृपा से जन्म, मृत्यु आदि सब संकटों को अनायास ही तर जायगा और यदि अहङ्कार के कारण मेरे वचनों को नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थ से भ्रष्ट हो जायगा। और जो तू अहङ्कार को अवलम्बन करके ऐसे मानता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है क्योंकि क्षत्रियपन का स्वभाव तेरे को जबरदस्ती युद्ध में लगा देगा। और हे अर्जुन, जिस कर्म को तू मोह से नहीं करना चाहता है उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म से बँधा हुआ परवश होकर करेगा। क्योंकि हे अर्जुन, शरीर रूप यन्त्र में आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत प्राणियों के हृदय में स्थित है।

इसलिये हे भारत, सब प्रकार से उस परमेश्वर की ही अनन्य शरण को प्राप्त हो उस परमात्मा की कृपा से ही परम शान्ति को और सनातन परम धाम को प्राप्त होगा। इस प्रकार यह गोपनीय से भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिये कहा है। इस रहस्य युक्त ज्ञान को संपूर्णता से अच्छी तरह विचार के फिर तू जैसा चाहता है वैसा ही कर।

[भाष्य : ५८-६३]

इतना कहने पर भी अर्जुन का कोई उत्तर नहीं मिलने के कारण श्री कृष्ण भगवान फिर बोले कि हे अर्जुन, संपूर्ण गोपनीय से भी अति गोपनीय मेरे परम रहस्य युक्त वचन को तू फिर भी सुन क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है। इससे यह परम हित कारक वचन मैं तेरे लिये कहूँगा। हे अर्जुन, तू केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मा में हो अनन्य प्रेम से नित्य निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वर को ही भजने वाला हो तथा मेरा मन, वाणी और शरीर के द्वारा सर्वस्व अर्पण करके पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान सबके आश्रय रूप वासुदेव को विनय भाव पूर्वक भक्ति सहित साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर ऐसा करने से तू मेरे को ही प्राप्त होगा यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है।

इसलिये सर्वधर्मों को अर्थात् संपूर्ण कर्मों के आश्रय को त्याग कर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मा को ही अनन्य शरण को प्राप्त हो। मैं तेरे को संपूर्ण पापों को मुक्त कर दूंगा, तू शोक मत कर। हे अर्जुन, इस प्रकार तेरे हित के लिये कहे हुए इस गीतारूप परम रहस्य को किसी काल में भी न तो तप रहित मनुष्य के प्रति कहना चाहिये और न भक्ति रहित के प्रति तथा न बिना सुनने की इच्छावाले के ही प्रति कहना चाहिये एवं जो मेरी निन्दा करता है उसके प्रति भी नहीं कहना चाहिये।

[भाष्य : ६४-६७]

क्योंकि जो पुरुष मेरे में परम प्रेम करके इस परम रहस्य युक्त गीता शास्त्र को मेरे भक्तों में कहेगा वह निःसन्देह मेरे को ही प्राप्त होगा। और न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्यों में कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्य प्यारा पृथ्वी में दूसरा कोई होवेगा। तथा हे अर्जुन, जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनों के संबाद रूप गीता शास्त्र को पढ़ेगा अर्थात् नित्य पाठ करेगा उसके द्वारा मैं ज्ञान यज्ञ से पूजित होऊँगा ऐसा मेरा मत है। तथा जो पुरुष श्रद्धा से युक्त और दोष दृष्टि से रहित हुआ इस गीता शास्त्र का श्रवण मात्र भी करेगा वह भी पापों से मुक्त हुआ उत्तम कर्म करने वालों के श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होवेगा।

इस प्रकार गीता का माहत्म्य कहकर भगवान श्री कृष्ण चन्द्र आनन्दकन्द ने अर्जुन से पूछा कि हे पार्थ, क्या यह मेरा वचन तैने एकाग्र चित्त से श्रवण किया और हे धनंजय, क्या तेरा अज्ञान से उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ? इस प्रकार भगवान के पूछने पर अर्जुन बोला हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है। इसलिये मैं संशय रहित हुआ स्थित हूँ और आपकी आज्ञा पालन करूँगा। इसके उपरान्त संजय बोला—हे राजन्, इस प्रकार मैंने श्री वासुदेव के और महात्मा अर्जुन के इस अद्भुत रहस्य युक्त और रोमांच कारक संवाद को सुना।

[भाष्य : ६८–७४]

कैसे कि श्री व्यासजी की कृपा से दिव्य दृष्टि द्वारा मैंने इस परम रहस्य युक्त गोपनीय योग को साक्षात् कहते हुए स्वयम् योगेश्वर श्री कृष्ण भगवान से सुना है । इसलिये हे राजन्, श्री कृष्ण भगवान् और अर्जुन के इस रहस्य युक्त कल्याण कारक और अद्भुत संवाद को स्मरण करके मैं बारम्बार हर्षित होता हूं । तथा हे राजन्, श्री हरि के उस अति अद्भुत रूप को भी पुनः पुनः स्मरण करके मेरे चित्त में महान् आश्चर्य होता है और मैं बारम्बार हर्षित होता हूं। हे राजन् विशेष क्या कहूँ जहाँ योगेश्वर श्री कृष्ण भगवान हैं और जहाँ गाण्डिव धनुषधारी अर्जुन हैं वहीं पर श्री विजय विभूति और नीति है ऐसा मेरा मत है ।

[भाष्य : ७५-७८]

।। इति मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्याय ।।

—:o:—

अष्टादश अध्याय : व्यवहार दर्शन

इस अध्याय में श्री कृष्ण परमात्मा ने संसार से संन्यास एवं कर्म बन्धन से मुक्ति के उपाय का वर्णन व्याख्या सहित किया है। इसलिये इसका नाम मोक्ष संन्यास योग कहा गया है। अर्जुन के इस प्रश्न पर कि संन्यास और त्याग को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूं भगवान ने अपना निश्चित किया हुआ जो उत्तम मत है उसे इस प्रकार कहा—हे अर्जुन, संपूर्ण श्रेष्ठ कर्मों को, आसक्ति और फलों को त्याग कर, अवश्य करना चाहिये। ऐसा त्याग ही उत्तम त्याग है एवं इसे ही संन्यास कहना चाहिये। देहधारी पुरुषों से सर्वथा कर्म का त्याग करना संभव नहीं है इसलिये कर्मों के फल का त्यागी ही सच्चा त्यागी है एवं संन्यासी है। सकामी पुरुषों के कर्मों का फल अच्छा, बुरा और मिला हुआ तीन प्रकार का होता है, और त्यागी पुरुषों के कर्म का फल किसी काल में भी नहीं होता, उसकी बुद्धि कर्म में लिपायमान नहीं होती और मैं करता हूं ऐसा भाव भी नहीं रहता ऐसा पुरुष सब लोकों को मारकर भी बास्तव में न किसी को मारता है न पाप से बँधता है।

कर्मों की सिद्धि में पाँच हेतु होते हैं-आधार, कर्त्ता, कारण, चेष्टा, और देव। कर्म करने की प्रेरणा ज्ञाता, ज्ञान और

ज्ञेय के द्वारा मिलती है और कर्त्ता, कारण और क्रिया इनके संयोग से कर्म बनता है। शुद्ध स्वरूप आत्मा को कर्त्ता मानना अज्ञान है और शरीर सहित मैं को कर्त्ता मानने से कर्म बन्धन बन जाता है। इसलिये कर्म और कर्त्ता का यथार्थ स्वरूप जैसा ऊपर लिखा गया है, विचार कर समझने से ज्ञान में वृद्धि होती है एवं कर्म बन्धन नहीं होता। **सात्त्विकी-कर्त्ता**--आसक्ति रहित मृदु वाणी धैर्य और उत्साह सहित कार्य को सिद्धि असिद्धि में हर्ष, शोक में विकार रहित होकर; **सात्त्विकी-बुद्धि**—प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग तथा कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य एवं भय, अभय तथा मोक्ष और बन्धन को तत्त्व से अच्छी तरह जान कर; **सात्त्विकी-धारणा**—जिसे अव्यभिचारिणी वृत्ति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करके; **सात्त्विकी-ज्ञान**—जो कि पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक परमात्मा को समभाव से स्थित देखता है, इसे प्राप्त कर; **सात्त्विकी-कर्म**—जो कि राग-द्वेष से रहित कर्त्तापन के अभिमान से रहित शास्त्र विधि से नियत फल की इच्छा न रख कर करता है। इससे **सात्त्विकी-सुख**—जो कि साधन काल में कष्ट साध्य परन्तु परिणाम में अमृत तुल्य होता है ऐसे सुख को सात्त्विकी कर्ता प्राप्त करता है। और वह सात्त्विकी-कर्त्ता बुद्धि, धारणा और ज्ञान द्वारा कर्म करता है एवं सात्त्विकी सुख को प्राप्त करता है।

राजसी-कर्ता—फल को चाहने वाला आसक्ति से युक्त लोभ

वश दूसरों को कष्ट देकर हर्ष, शोक से लिपायमान होकर, **राजसी-बुद्धि**—धर्म, अधर्म और कर्तव्य, अकर्तव्य के यथार्थ को न विचार कर; **राजसी-धारण**—फल की इच्छा रखता हुआ आसक्ति सहित धर्म, अर्थ और कर्म को धारण करके; **राजसी-ज्ञान**—प्रत्येक भूत में अनेक भाव को न्यारा-न्यारा जानता हुआ; **राजसी कर्म**—जो कि अहंकार युक्त फल की चाह रखकर बहुत परिश्रम पूर्वक करता है, जिससे **राजसी-सुख**—इन्द्रिय और विषयों के संयोग से भोग काल में सुख एवं परिणाम में कष्ट देने वाले सुखों को प्राप्त होता है। राजसी कर्ता राजसी-बुद्धि, धारण, ज्ञान द्वारा कर्म करके राजसी सुख को पाता है।

तामसी-कर्ता—विक्षेप युक्त चित्तवाला, शिक्षा से रहित, घमण्डी, धूर्त्त, दूसरों की आजोविका नाश करने वाला, शोक करने के स्वभाव वाला और आलस से युक्त; **तामसी-बुद्धि**—तमोगुण से आवृत्त अधर्म को धर्म ऐसा मानकर; **तामसी-धारणा**—निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख को वृत्ति में धारण कर; **तामसी ज्ञान**—जो कि एक कार्यरूप शरीर में ही सम्पूर्णता के सदृश आसक्त होकर; **तामसी-कर्म**—परिणाम में हानि, हिंसा देने वाला समार्थ्य को न विचार कर अज्ञान से करता है उससे; **तामसी-सुख**—भोगकाल में और परिणाम में आत्मा को मोहित करने वाला निन्द्रा, आलस्य प्रमाद को देने वाले सुख को प्राप्त करता है। तामसी कर्त्ता तामसी बुद्धि, धारणा, ज्ञान द्वारा कर्म करके तामसी सुख को भोगता है। इस प्रकार संसार में तीन प्रकार के

कर्म अपने-अपने स्वभाव के अनुसार सात्त्विकी, राजसी और तामसी कर्ता द्वारा किये जाते हैं। इनमें सात्त्विकी कर्म सात्विकी विधान से करना उत्तम है।

मनुष्य का स्वाभाविक धर्म आसुरी संपदा का दमन कर दैवी सम्पदा की प्रतिष्ठा करना है। यही सच्चिदानन्दघन प्रभु की इच्छा है। इसके विपरीत जो मोहवश अपने धर्म का पालन नहीं करता है वह कर्तव्यच्युत व्यक्ति कर्म बंधन में पड़ा हुआ संसार में भिन्न-भिन्न योनियों में भटकता रहता है। इसलिये स्वाभाविक धर्म का अपने वर्ण के स्वभाव के अनुसार पालन करणा ही श्रेय है। **ब्राह्मण का स्वभाव**—अन्तःकरण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, बाहर-भीतर की शुद्धि, धर्म के लिये कष्ट सहन, क्षमा भाव, आस्तिक बुद्धि, शास्त्र विषयक ज्ञान और परमात्मतत्त्व का अनुभव भिक्षा वृत्ति करके भी प्राप्त करना। **वैश्य का स्वभाव**-खेती, गोपालन और क्रय-विक्रय रूप सत्य व्यवहार करते हुये परमार्थ प्राप्त करना। **शूद्र का स्वभाव**—सब वर्णों की सेवा करना, इस स्वाभाविक कर्म को करके परमार्थ को प्रात करना अर्थात् भगवत् प्राप्ति रूप परम सिद्धि को प्राप्त करना है। **क्षत्रिय का स्वभाव**-शूरवीरता, धैर्य, चतुरता ,युद्ध में न भागने का स्वभाव, दान और स्वामीभाव यह क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है। इसलिये हे अर्जुन, अपने स्वाभाविक धर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिये और तू चेष्टा करके भी छोड़ नहीं सकेगा। और जो तेरा विचार है कि मैं भिक्षा के अन्न से जीवन निर्वाह कर लूँगा यह संभव

नहीं क्योंकि तेरा स्वामीभाव का स्वभाव है इसलिये ऐसा करने में सब समय बाधा देगा। इस संघर्ष में तू नष्ट हो जायेगा। इसलिये स्वाभाविक धर्म जो सामान्य रूप से चारों वर्णों के लिये निश्चित है उस व्यक्ति को अपने वर्ण के अनुसार जो स्वाभाविक कर्म है उसका पालन करना चाहिये यही तेरे लिये भी उचित और उत्तम मार्ग है। क्योंकि सब ही कर्म किसी न किसी दोष से आवृत्त हैं। इसलिये स्वधर्म रूप कर्म को करने से कोई भी पाप को नहीं प्राप्त होगा। यह गोपनीय से भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिये कहा है। इस रहस्य युक्त ज्ञान को संपूर्णता से अच्छी तरह विचार कर, फिर जो अच्छा लगे वैसा ही कर।

ऐसा सुनकर अर्जुन विचार करने लगा। उस समय परम दयालु भगवान श्री कृष्ण ने अपने अन्तःकरण का परमगोपनीय तत्त्व अर्जुन के प्रति इस प्रकार कहा—हे अर्जुन तू, मेरा अतिशय प्रिय है, इसलिये सुन। तू केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मा में अनन्य प्रेम से नित्य निरन्तर अचल मन वाला हो, मन, वाणी और शरीर के द्वारा सर्वस्व अर्पण करके पूजन करने वाला हो अर्थात् आज्ञा का पालन करने वाला हो। मुझ सर्वशक्तिमान सबके आश्रय रूप वासुदेव को विनय भाव पूर्वक नमस्कार कर अपने आप को पूर्ण समर्पण मेरे प्रति कर दे। ऐसा करने से तू मेरे को ही प्राप्त होगा। मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा प्रिय सखा है। इसलिये सब धर्मों के आश्रय को छोड़ कर एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मा की ही अनन्य

शरण को प्राप्त हो, मैं तुझे संपूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर। इस प्रकार भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को सम्बोधित कर पूछा—हे धनंजय, क्या तेरा अज्ञान से उत्पन्न मोह नष्ट हुआ? इस प्ररकार भगवान के पूछने पर अर्जुन ने कहा—हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है, इसलिये मैं संसय रहित हुआ स्थित हूं और आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

इसके उपरान्त संजय ने कहा--हे राजन्, श्री व्यासजी की कृपा से दिव्य दृष्टि द्वारा मैंने इस परम रहस्य युक्त गोपनीय योग को साक्षात् कहते हुये स्वयम् योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान से सुना है। इसलिये हे राजन्, श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस रहस्य युक्त कल्याणकारक और अद्भुत संवाद को पुनः पुनः स्मरण करके मैं वारम्वार हर्षित होता हूं। हे राजन्, विशेष क्या कहूं, जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान हैं और जहाँ गाण्डिव धनुषधारी अर्जुन हैं वहीं पर श्री विजय विभूति और निति है ऐसा मेरा मत है।

॥ इति व्यवहार दर्शन : अष्टादश अध्याय ॥

—:o:—

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

गीता-प्रश्न-उत्तर

[श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन ने श्री कृष्ण परमात्मा से जो प्रश्न किये हैं एवं उनका जो उत्तर भगवान ने दिया उनका विशद उल्लेख इस शीर्षक के अंतर्गत संक्षेप में किया गया है। इसे पढ़कर पाठक सुगमता पूर्वक गीता रहस्य का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।]

प्रश्न १ : (अध्याय १ : श्लोक २८-२९)—हे कृष्ण, युद्ध की इच्छा वाले खड़े हुए स्वजन समुदाय को देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जाते हैं और मुख भी सुखा जाता है और मेरे शरीर में कम्प तथा रोमाञ्च होता है।

उत्तर : हे अर्जुन, तुमको इस विषम स्थल में अज्ञान किस हेतु से प्राप्त हुआ है। नपुंसकता को मत प्राप्त हो। यह तेरे योग्य नहीं है। तुच्छ हृदय की दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिये खड़ा हो।

प्रश्न २ : (अध्याय २ : श्लोक ४-७)—हे मधुसूदन, मैं रणभूमि में भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य के प्रति किस प्रकार युद्ध करूँगा, क्योंकि वे दोनों ही पूजनीय हैं, धर्म के विषय में मोहित चित्त हुआ मैं आपको पूछता हूं जो निश्चय किया हुआ कल्याणकारक साधन हो वह मेरे लिये कहिये।

उत्तर : हे अर्जुन, तू शोक न करने योग्यों के लिये शोक करता है। पण्डित जन जिनके प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण नहीं गये हैं इन दोनों के लिये शोक नहीं करते, जय पराजय को समान

समझकर युद्ध के लिये तैयार हो, तेरा कर्म करने मात्र में ही अधिकार है फल में कभी नहीं। इसलिये अपने कर्तव्य कर्म को समत्व भाव से कर, तुझे कर्म-बन्धन नहीं होगा।

प्रश्न ३ : (अध्याय २ : श्लोक ५४) —हे केशव, समाधि में स्थित स्थिर बुद्धि वाले पुरुष का क्या लक्षण है और स्थिर बुद्धि पुरुष कैसे बोलता है और कैसे बैठता है, कैसे चलता है ?

उत्तर : जो दुःख में उद्विग्न नहीं होता, सुख में स्पृहा नहीं करता, राग, भय, क्रोध जिसके नष्ट हो गये हैं और मन में स्थित संपूर्ण कामनाओं को त्याग कर आत्मा से ही आत्मा में संतुष्ट रहता है उसे स्थिर बुद्धि कहते हैं। वह आसक्ति रहित अन्तःकरण से बोलता है, जीवन यात्रा में प्रसन्न चित्त रहकर सदा सर्वदा चलता है और कछुए की तरह सारी इन्द्रियों को वश में करके बैठता है।

प्रश्न ४ : (अध्याय ३ : श्लोक १-२) —हे जनार्दन, यदि कर्म के अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो मुझे भयङ्कर कर्म में क्यों लगाते हैं ? मिले हुए वचन से मेरी बुद्धि मोहित हो रही है, इसलिये एक बात निश्चय करके मेरे लिये कहिये।

उत्तर : इस लोक में दो प्रकार की निष्ठाएँ मेरे द्वारा कही गई हैं-ज्ञानियों को ज्ञान योग से और योगियों को निष्काम कर्म योग से। ज्ञान योग सद् विचार द्वारा विवेक से और निष्काम कर्मयोग फल आसक्ति त्याग कर सेवा भाव से प्राप्त होता है। लोक संग्रह को

देखता हुआ वंश परम्परा के अनुसार जैसे जनकादि राजा आसक्ति रहित कर्म द्वारा परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, वैसे ही तेरे लिए स्वधर्म पालन करना श्रेष्ठ है, क्योंकि कर्म वेद से उत्पन्न हुए हैं और वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ जान। इससे सर्वव्यापी परमात्मा यज्ञ (कर्म) में प्रतिष्ठित है।

प्रश्न ५ : (अध्याय ३ : श्लोक ३६)—हे कृष्ण, यह पुरुष जबरदस्ती न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित हुआ पाप का आचरण करता है।

उत्तर : रजो गुण से उत्पन्न हुआ काम ही क्रोध है। यही महाअशन अर्थात् भोगों से न तृप्त होने वाला बड़ा पापी है। इस विषय में इसको ही तू बैरी जान। इसलिए हे अर्जुन, इन्द्रियों को वश में करके इस काम रूप पापी को मार अर्थात् कामनाओं का त्याग कर। इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन और मन से बुद्धि और बुद्धि से अति श्रेष्ठ आत्मा है इस प्रकार आत्मा को जानकर बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहो, दुर्जय कामरूप शत्रु को मार।

प्रश्न ६ : (अध्याय ४ : श्लोक ४)—हे भगवान, आपका जन्म तो आधुनिक अर्थात् अब हुआ है और सूर्य का जन्म बहुत पुराना है। इसलिये इस योग को कल्प के आदि में आपने कहा था, यह मैं कैसे जानूँ।

उत्तर : हे अर्जुन, मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। उन सबको तू नहीं जानता, मैं जानता हूं। मेरा वह जन्म एवं

कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है। मैं अविनाशी स्वरूप अजन्मा होने पर भी प्रकृति को आधीन करके योगमाया से प्रगट होता हूं। साधु पुरुषों के उद्धार करने के लिये और धर्म स्थापन करने के लिये, दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिये युग युग में प्रकट होता हूं। राग, भय और क्रोध से रहित अनन्य भाव से मेरे में स्थिति वाले मेरे शरण हुए ज्ञान रूप तपसे पवित्र होकर इस योग का साधन करते हुए अपने कर्तव्य कर्मों का पालन कर। इससे मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जावेगा।

प्रश्न ७ : (अध्याय ५ : श्लोक १२)—हे कृष्ण, आप कर्मों के संन्यास की और फिर निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं। इसलिये इन दोनों में एक जो निश्चय किया हुआ कल्याणकारक होवे उसको मेरे लिये कहिये।

उत्तर : कर्मों का संन्यास और निष्काम कर्मयोग ये दोनों ही परम कल्याण के करने वाले हैं। इन दोनों का एक ही फल परमात्मा को प्राप्त करना है। कर्म संन्यास में कर्मों के क्रिया-काल में भी कर्तापन का अभाव रहता है अर्थात् कर्तापन का त्याग कर्म संन्यास कहलाता है। और कर्म करने के साथ उसके फल का त्याग निष्काम कर्म कहलाता है। इन दोनों को पालन करने वाले व्यक्ति न किसी से द्वेष करते हैं, न किसी से आकांक्षा ही रखते हैं, परन्तु कर्मों के संन्यास से निष्काम कर्मयोग साधन में सुगम होने से श्रेष्ठ है।

प्रश्न ८ : (अध्याय ६ : श्लोक ३३-३४)—हे मधुसूदन, जो यह ध्यान योग आपने समत्वभाव से कहा है इसकी मैं मन के चञ्चल होने से बहुत काल तक ठहरने वाली स्थिति को नहीं देखता हूं। क्योंकि हे कृष्ण, यह मन बड़ा चञ्चल और प्रमथन स्वभाव वाला है तथा बड़ा दृढ़ और बलवान है। इसलिये उसका वश में करना मैं वायु की भांति अति दुष्कर मानता हूं।

उत्तर : हे महाबाहो, निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनता से वश में होने वाला है, परन्तु हे कुन्ती पुत्र अर्जुन, अभ्यास अर्थात् स्थिति के लिये बारम्बार यत्न करने से और वैराग्य से वश में होता है। मनको वश में न करने वाले पुरुष द्वारा योग दुष्प्राप्य है अर्थात् प्राप्त होना कठिन है ओर स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा साधन करने से प्राप्त होना सहज है। यह मेरा मत है।

प्रश्न ९ : (अध्योय ६ : श्लोक ३७-३८)—हे कृष्ण, योग से चलायमान हो गया है मन जिसका ऐसा शिथिल यत्नवाला श्रद्धा युक्त पुरुष योग की सिद्धि को अर्थात् भगवत् साक्षात्कारता को न प्राप्त होकर किस गति को प्राप्त होता है? हे महाबाहो, क्या वह भगवत्प्राप्ति के मार्ग में मोहित हुआ आश्रय रहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादल की भांति दोनों ओर से अर्थात् संसार के भोग एवं भगवत्प्राप्ति से नष्ट तो नहीं हो जाता है?

उत्तर : हे पार्थ, उस पुरुष का न तो इस लोक में और न परलोक में ही नाश होता है क्योंकि भगवत् अर्थ काम करनेवाले की दुर्गति नहीं होती। योगभ्रष्ट पुरुष उत्तम लोकों को प्राप्त होकर उनमें बहुत वर्षों तक बास करके फिर श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है। वहां उस पहिले शरीर में साधन किये हुए बुद्धि के संयाग को अर्थात् समत्व बुद्धियोग के संस्कारों को अनायास हो प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन, उसके प्रभाव से फिर अच्छी तरह भगवत्प्राप्ति के निमित्त यत्न करता है।

प्रश्न १० : (अध्याय ६ : श्लोक १–२)––हे पुरुषोत्तम वह ब्रह्म क्या है, और अध्यात्म क्या है, तथा कर्म क्या है, और अधिभूत नाम से क्या कहा गया है, तथा अधिदैव नाम से क्या कहा जाता है, अधियज्ञ कौन है, और वह इस शरीर में कैसे है और युक्त चित्त वाले पुरुषों द्वारा अन्त समय में आप किस प्रकार जानने में आते हो?

उत्तर : परम अक्षर अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं हो ऐसा सच्चिदानन्दघन परमात्मा तो **ब्रह्म** है, अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा **अध्यात्म** नाम से कहा जाता है, तथा भूतों के भाव को उत्पन्न करनेवाला शास्त्रविहित यज्ञ, दान और होम आदि के निमित्त जो द्रव्यादिकों का त्याग है वह कर्म नाम से कहा गया है। उत्पत्ति विनाश धर्मवाले सब पदार्थ **अधिभूत** हैं और हिरण्यमय पुरुष अधिदेव है, और हे देह धारियों में श्रेष्ठ अर्जुन, इस शरीर में मैं वासुदेव ही विष्णु रूप से **अधियज्ञ** हूं और जो पुरुष अन्त

काल में मेरे को ही स्मरण करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है वह मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है ।

प्रश्न ११ : (अध्याय १० : श्लोक १२-१८)--आप परम ब्रह्म, परमधाम, परम पवित्र हैं; क्योंकि आपको सब ऋषिजन सनातन दिव्य पुरुष एवं देवों का भी आदिदेव, अजन्मा, सर्वव्यापी कहते हैं। आपही उन अपनी दिव्य विभूतियों को संपूर्णता से कहने के लिये योग्य हैं जिन विभूतियों के द्वारा इन सब लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं। हे योगेश्वर, मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और किन-किन भावों में मेरे द्वारा चिन्तन करने योग्य हैं और हे जनार्दन, अपनी योग शक्ति को और परम ऐश्वर्यरूप विभूति को विस्तार पूर्वक कहिये ।

उत्तर : हे अर्जुन, मैं सब भूतों के हृदय में स्थित सबका आत्मा हूं। मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। संक्षेप में ऐसा समझ लो कि जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त एवं कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तुएँ हैं उनको तू मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई जान। इस संपूर्ण जगत् को अपनी योगमाया के एक अंश-मात्र से धारण करके स्थित हूं। हे अर्जुन, संसार के प्रत्येक पदार्थ में तथा मन की गति जहाँ तक जाती है सब में मेरे प्रकाश का चिन्तन करता हुआ मुझे जानने का अभ्यास कर। अन्तःकरण में पूर्ण समर्पण के भाव रखकर मेरा चिन्तन करना चाहिये।

प्रश्न १२ : (अध्याय ११ : श्लोक १-४)—मेरे पर अनुग्रह करने के लिये परम गोपनीय अध्यात्म विषयक वचन अर्थात्

उपदेश आपके द्वारा जो कहा गया उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया। हे प्रभो, यदि मेरे द्वारा आपका वह ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजयुक्त रूप देखा जाना शक्य है ऐसा मानते हैं तो हे योगेश्वर, आप अपने अविनाशी स्वरूप का मुझे दर्शन कराइये।

उत्तर : हे अर्जुन, मैं तेरे लिए दिव्य अलौकिक चक्षु देता हूँ, उससे तू मेरे प्रभाव को और योग शक्ति को देख। अनेक मुख और नेत्रों से युक्त अनेक अद्भुत दर्शनों वाले एवं बहुत से दिव्य भूषणों से युक्त और बहुत से दिव्य शस्त्रों को हाथों में उठाये हुए दिव्य माला और वस्त्रों को धारण किये हुए और दिव्य गंन्ध का अनुलेपन किये हुए एवं सब प्रकार के आश्चर्य युक्त सीमा-रहित विराट् स्वरूप परमदेव परमेश्वर को अर्जुन ने देखा।

प्रश्न १३ : (अध्याय ११ : श्लोक १५–३१)—हे देव, आपके शरीर में संपूर्ण देवों को तथा अन्य भूतों के समुदाय को और कमलासन पर बैठे हुए ब्रह्मा को तथा महादेव को और संपूर्ण ऋषियों को तथा दिव्य सर्पों को देखता हूँ। हे विश्वरूप, आपके न अन्त को देखता हूं तथा न मध्य को और न आदि को ही देखता हूं।

आपको मैं मुकुट युक्त, गदा युक्त और चक्र युक्त तथा सब ओर से प्रकाशमान तेज का पुञ्ज प्रज्ज्वलित अग्नि और सूर्य के सदृश ज्योति युक्त देखने में अति गहन और अप्रमेय स्वरूप को सब ओर से देखता हूं। आपके विकराल जाड़ों वाले

और प्रलय काल की अग्नि के समान प्रज्ज्वलित मुखों को देखकर दिशाओं को नहीं जानता हूँ और वे सब ही धृत-राष्ट्र के पुत्र राजाओं के समुदाय सहित आपमें प्रवेश करते हैं और भीष्म पितामह द्रोणाचार्य तथा वह कर्ण और हमारे पक्ष के भी प्रधान योद्धाओं के सहित सब वेगयुक्त हुए आपके विकराल जाड़ों वाले भयानक मुखों में अपने नाश के लिये अति वेग से युक्त हुए प्रवेश करते हैं और आप संपूर्ण लोकों को प्रज्ज्वलित मुखों द्वारा ग्रसन करते हुए सब ओर से चाट रहे हैं। हे विष्णो, आपका उग्र प्रकाश संपूर्ण जगत् को तेज के द्वारा परिपूर्ण करके तपायमान करता है भगवन्, कृपा करके मेरे प्रति कहिये कि आप उग्र रूप वाले कौन हैं। हे देवों में श्रेष्ठ, आपको नमस्कार होवे, आप प्रसन्न होइये। आदिस्वरूप आपको मैं तत्त्व से जानना चाहता हूं।

उत्तर : भगवान द्वारा कारण वर्णन—हे अर्जुन, मैं लोकों का नाश करने वाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ। इस समय इन लोकों को नष्ट करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूं इसलिये जो प्रति पक्षियों की सेना में स्थित हुए योद्धा लोग हैं वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे। इसलिये तू खड़ा हो और यश को प्राप्त कर, भय मत कर, निःसन्देह तू युद्ध में वैरियों को जीतेगा। इसलिये युद्ध कर तू तो केवल निमित्तमात्र ही होगा।

अर्जुन द्वारा अपनी स्थिति का वर्णन—भगवान् श्री कृष्ण के प्रति भयभीत हुआ प्रणाम करके गद्-गद् वाणी से मुकुटधारी

अर्जुन बोला—हे अन्तर्यामिन्, आपके नाम और प्रभाव के कीर्तन से जगत् अति हर्षित होता है और अनुराग को भी प्राप्त होता है तथा भयभीत हुए राक्षस लोग दिशाओं में भागते हैं और सब सिद्धगणों के समुदाय नमस्कार करते हैं। हे देवेश, हे जगन्निवास, जो सत् असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है वह आप ही हैं। हे अनन्त-रूप आप से यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण हैं। हे सर्वआत्मन्, आपके लिये सब ओर से ही नमस्कार होवे। हे विश्वमूर्ते, मैं पहिले न देखे हुए आश्चर्यमय आपके इस रूप को देखकर हर्षित हो रहा हूं और मेरा मन भय से अति व्याकुल भी हो रहा हैं। इसलिये हे देव, आप उस अपने चतुर्भुज रूप को ही मेरे लिये दिखाइये। हे देवेश, हे जगन्निवास, प्रसन्न होइये।

भगवान द्वारा यथावत स्थिति का वर्णन—हे अर्जुन, अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योग शक्ति के प्रभाव से यह मेरा परम तेजोमय सबका आदि और सीमा रहित्त विराट् रूप तेरे को दिखाया है जो कि तेरे सिवाय दूसरे से पहिले नहीं देखा गया। तेरे को व्याकुलता न होवे और मूढ़ भाव भो न होवे और भय रहित प्रीतियुक्त मनवाला तू मेरे इस शंख-चक्र-गदा-पद्म सहित चतुर्भुज रूप को फिर देख और महात्मा श्री कृष्ण ने सौम्य-मूर्ति होकर भयभीत हुए अर्जुन को धीरज दिया।

अर्जुन द्वारा शान्त चित्त होना--हे जनार्दन, आपके इस अति शान्त मनुष्य रूप को देखकर अब मैं शान्त चित्त हुआ अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया हूं।

भगवान द्वारा प्रिय भाषण--मेरा यह चतुर्भुज रूप देखने को अति दुर्लभ है कि जिसको तुमने देखा है। न वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं देखा जाने को शक्य हूँ। हे अर्जुन, अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखने के लिये और तत्त्व से जानने के लिये तथा एकीभाव से प्राप्त होने के लिये भी शक्य हूं। हे अर्जुन, जो पुरुष केवल मेरे ही लिये कर्तव्य कर्मों को करनेवाला है और मेरे को परम आश्रय मान कर मेरी प्राप्ति के लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है और संपूर्ण भूत प्राणियों में वैरभाव रहित है ऐसा वह अनन्य भक्ति वाला पुरुष मेरे को ही प्राप्त होता है।

प्रश्न १४ : (अध्याय १२ : श्लोक १२) हे मनमोहन, जो अनन्य प्रेमी भक्तजन इस पूर्वोक्त प्रकार से निरन्तर आपके भजन ध्यान में लगे हुए आप सगुणरूप परमेश्वर को अति श्रेष्ठ भाव से उपासते हैं और जो अविनाशी सच्चिदानन्दघन निराकार को ही उपासते हैं उन दोनों प्रकार के भक्तों में अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ?

उत्तर : हे अर्जुन, मेरे में मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन ध्यान में लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ

श्रद्धा से युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वर को भजते हैं वे मेरे को योगियों में भी अति उत्तम योगी मान्य हैं । और जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को अच्छी तरह वश में करके मन बुद्धि से परे सर्वव्यापी अकथनीय स्वरूप और सदा एक रस रहनेवाले नित्य अचल निराकार अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को निरन्तर एकीभाव से ध्यान करते हुए उपासते हैं वे संपूर्ण भूतों के हित में रत हुए और सब में समान भाववाले योगी भी मेरे को ही प्राप्त होते हैं ।

प्रश्न १५ : (अध्याय १४ : श्लोक २१) हे पुरुषोत्तम, इन तीनों गुणों से अतीत हुआ पुरुष किन किन लक्षणों से युक्त होता है और किस प्रकार के आचरणों वाला होता है तथा हे प्रभो, मनुष्य किस उपाय से इन तीनों गुणों से अतीत होता है ?

उत्तर : हे अर्जुन, जो पुरुष सत्त्वगुण के कार्यरूप प्रकाश को और रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्ति को तथा तमोगुण के कार्य रूप मोह को भी न तो प्रवृत्त होने पर बुरा समझता है और न निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा करता है । निरन्तर आत्मभाव में स्थित दुंःख-सुख को समान समझने वाला तथा मान अपमान में सम है, निन्दा स्तुति में समान भाव वाला है और प्रिय-अप्रिय को बराबर समझता है । जो साक्षी के सदृश स्थित हुआ गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुणों में बर्तते हैं ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मा में एकीभाव

से स्थित रहता है एवं संपूर्ण आरम्भों में कर्त्तापन के अभिमान से रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है ।

प्रश्न १६ : (अध्याय १७ : श्लोक १)—हे कृष्ण, जो मनुष्य शास्त्र विधि को त्याग कर केवल श्रद्धा से युक्त हुए देवादिकों का पूजन करते हैं उनकी स्थिति फिर कौनसी है ? क्या सात्त्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी है ?

उत्तर : हे अर्जुन, मनुष्यों की वह स्वभाव से उत्पन्न हुई श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी ऐसे तीनों प्रकार की ही होती है और यह पुरुष श्रद्धामय है इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धा वाला है वह स्वयम् भी वही है। जैसी(सात्त्विकी, राजसी, तामसी) जिसकी श्रद्धा है वैसा ही उसका स्वरूप है अर्थात् उसका व्यवहार उसकी श्रद्धा के अनुसार ही होता है जिसे देखकर उसकी स्थिति का अनुभव हो जाता है ।

प्रश्न १७ : (अध्याय १८ : श्लोक १)–हे महाबाहो, हे अन्तर्यामिन, हे वासुदेव, मैं संन्यास और त्याग के तत्त्व को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ ।

उत्तर : हे अर्जुन, वह त्याग सात्त्विकी, राजसी, तामसी तीन प्रकार का होता है । करना कर्तव्य है ऐसे समझकर ही जो नियत किया हुआ कर्तव्य कर्म आसक्ति को और फ़ल को त्याग कर किया जाता है वह सात्त्विक त्याग कहा जाता है। कर्मों को दुःख रूप समझकर शारीरिक क्लेश के भय से कर्मों का त्याग कर दे वह

राजसी त्याग है एवं त्याग के फल को प्राप्त नहीं होता है। नियत कर्मों का मोह से त्याग करना तामस त्याग कहा गया है। यह यज्ञ, दान, तप रूप कर्म तथा और भी संपूर्ण श्रेष्ठ कर्म आसक्ति को और फलों को त्याग कर अवश्य करना चाहिये ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।

अर्जुन द्वारा स्वीकृति : (अध्याय १८ : श्लोक ७३)—हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है। इसलिये मैं संसय रहित हुआ स्थित हूं और आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

—:०:—

(१) विवेक सम्पन्न व्यक्ति को ज्ञानवान कहा जाता है और ज्ञानवान ही ब्रह्म में लीन होता है।

(२) द्रव्य से सम्पन्न व्यक्ति को धनवान कहा जाता है और धनासक्त ही माया में लीन होता है।

(३) समाज में सद्गुणों के आदर से उन्नति होती है।

(४) समाज में भौतिक पदार्थों के आदर से अभिमान बढ़ता है।

—:०:—

* ॐ श्री परमात्मने नमः *

अष्टादश श्लोकी गीता

[इस प्रकरण में भगवान श्रीकृष्ण द्वारा प्रभु शरणागति का मार्ग, जो श्रीमद्भागवद्गीता में प्रत्येक अध्याय अथवा योग में बताया गया है, उसके एक-एक श्लोक के आधार पर यहां मार्ग दर्शन कराया गया है। प्रथम अध्याय (श्लोक १) में विषाद होता है एवं सत्रह अध्याय १७ श्लोकों में विषाद मुक्त होने का उपाय अर्थात् प्रभुशरणागति का मार्ग दर्शन दिया गया है। अपनी रुची के अनुसार मार्ग ग्रहण कर कोई भी साधक परम शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

गान्डीवं स्त्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ १ ॥

[विषादयोग : श्लोक ॥३०॥]

शब्दार्थ : हाथ से गाण्डीव धनुष गिरता है और त्वचा भी बहुत जलती है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, इसलिये खड़ा रहने को भी समर्थ नहीं हूं।

भावार्थ : जब मनुष्य को विशेष विषाद होता है तो उसकी स्थिति क्या होती है इसका वर्णन इस श्लोक में है। अर्जुन कहते हैं कि हाथ से शस्त्र गिर रहा है, शरीर जल रहा है, मन में इस

बात का भ्रम हो रहा है कि मैं जो कुछ करने के लिये उद्यत और हूं वह बहुत बुरा और पापयुक्त कार्य है। इसका स्मरण होते ही शरीर कांप रहा है, रोमांच हो रहा है, और देह शिथिल हो रही है, मुख सुख रहा है। विशेष विषाद में ऐसी स्थिति हो जाती है। अपने इसी कष्ट का वर्णन अर्जुन श्रीकृष्ण परमात्मा के सामने कर रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में विषादयुक्त अर्जुन को शान्वि प्रदान कराने के लिए और निजी आनन्द की अनुभूति कराने के लिये कर्तव्य-पालन का उपदेश भगवान ने दिया।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहा ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ २ ॥

[सांख्ययोग : श्लोक ॥७१॥]

शब्दार्थ : जो पुरुष संपूर्ण कामनाओं को त्याग कर ममता रहित और अहंकार रहित स्पृहा रहित, हुआ बर्तता है वह शान्ति को प्राप्त होता है।

भावार्थ : भगवत् शरणागति या परमशांति प्राप्त करने के लिये साधक को सर्वप्रथम कामनाओं का त्याग कर देना चाहिये। पदार्थों के भोगों के प्रति जो वासनायें उठती हैं वहीं पर काम-नाओं की उत्पत्ति होती है, इसलिये भोग की वासना के संस्मरण से सब समय विरत रहे। और संसार में किसी भी पदार्थ में ममत्व भाव, जिसे लिपायमान होना कहते हैं, अपने अन्तःकरण

में न आने दे। और सब कुछ प्रभु की शक्ति से होता है ऐसा भलीभांति विवेचन करके देह अभिमान न करे एवं किसी भी पदार्थ को दूसरे देहधारी के पास देख कर स्पृहा न करे ऐसा अभ्यास निरन्तर करता रहे, इससे वह परम शान्ति को प्राप्त करेगा अथवा भगवत् शरणागति को प्राप्त करेगा।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ ३ ॥

[कर्मयोग : श्लोक ॥१६॥]

शब्दार्थ : इससे तू अनासक्त हुआ निरन्तर कर्तव्य कर्म का अच्छी तरह आचरण कर क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्मा की प्राप्त होता है।

भावार्थ : इस योग में श्री कृष्ण परमात्मा निरन्तर कर्त्तव्य कर्म को अच्छी तरह अर्थात् मन-बुद्धि से युक्त होकर करने के लिये उपदेश करते हैं। साधक अपने वर्ण के अनुसार गार्हस्थ पालन हेतु अथवा प्रजा-पालन हेतु कर्म करने से कभी भी विमुख न होवे बल्कि तत्परता के साथ अपने कर्म को निरन्तर याने मृत्यु पर्यन्त करता रहे। सिर्फ एक बात का ध्यान रखे कि किसी भी कर्म के द्वारा प्राप्त सुख-दुःख में लिपायमान अर्थात् उसके कर्मफल में मोहित न होवे। कर्म के फल को ही जो जीवन में अपना लक्ष्य मान लेता है वह व्यक्ति आसक्त हुआ कहलाता है, जो

कर्त्तव्य करना ही अपना लक्ष्य रखता है वह अनासक्त कहलाता है एवं परमात्मा को प्राप्त करता है और उसे प्रभु शरणागति की उपलब्धि होती है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिता।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ ४ ॥

[ज्ञानकर्मसंन्यासयोग : श्लोक ॥१०॥]

शब्दार्थ : राग, भय और क्रोध से रहित अनन्य भाव से मेरे में स्थिति वाले मेरे शरण हुए बहुत पुरुष ज्ञान रूप तप से पवित्र हुए मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं।

भावार्थ : इस योग के द्वारा प्रभु शरणागति का मार्ग बतलाते हुए श्री कृष्ण परमात्मा ने कहा कि राग, भय और क्रोध से रहित इस ज्ञान को अच्छी तरह समझकर जो संसार के भोग्य पदार्थों में राग नहीं करता, अप्राप्ति पर क्रोध नहीं करता एवं जिसको भय नहीं होता अर्थात् जो परमात्मा में पूर्ण विश्वास करता है ऐसा कर्तव्य परायण व्यक्ति इस ज्ञान रूप तप के द्वारा उपरोक्त तरीके से कर्म करने वाला मेरे में अनन्य भाव से स्थित हो जाता है एवं भगवत् सत्ता में उसे पूर्ण विश्वास हो जाता है। इस प्रकार के ज्ञान द्वारा तप (कर्म) करके बहुत से पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। इस मार्ग के द्वारा भगवत् शरणागति को प्राप्त हो जाता है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

[कर्मसंन्यासयोग : श्लोक ॥३॥]

शब्दार्थ : हे अर्जुन, जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसी की आकांक्षा करता है वह निष्काम कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझे जाने योग्य है क्योंकि राग, द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसार रूप बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

भावार्थ : इस अध्याय में "कर्म संन्यासयोग" द्वारा प्रभुशरणागति कैसे प्राप्त हो सकती है एवं उस साधक के क्या लक्षण होते हैं एवं संसार में किस प्रकार व्यवहार करता है इसको समझाते हुये कहते हैं कि वह साधक किसी से भी द्वेष नहीं करता अर्थात् अपने से अधिक साधन सम्पन्न व्यक्ति को देखकर उसके मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता, अन्तःकरण की प्रसन्नता में रंच मात्र भी फरक नहीं पड़ता और वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी व्यक्ति विशेष से आकांक्षा नहीं करता अर्थात् अपने कर्तव्य कर्म का पालन करते हुए जो कुछ प्राप्त हो जाय उसमें संतोष कर लेता है । न तो वह सांसारिक व्यक्तियों से किसी प्रकार की मांग करता है और न आवश्यकता पूर्ति के लिए भगवान से ही मांग करता है । ऐसे

व्यक्तियों का योगक्षेम भगवान खुद वहन करते हैं। वह सब प्रकार के द्वन्द्वों से अपने को पृथक् रखता है। इस प्रकार के आचरण करने वाला व्यक्ति सदा संन्यासी ही समझे जाने योग्य है, एवं प्रभु शरणागति प्राप्त करने में समर्थ है।

युञ्जन्नेवं सदात्मनं योगी नियतमानसः ।
शान्ति निर्वाण परमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ ६ ॥

[आत्मसंयमयोग : श्लोक ॥१५॥]

शब्दार्थ : इन प्रकार आत्मा को निरन्तर परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ स्वाधीन मनवाला योगी मेरे में स्थिति रूप परमानन्द पराकाष्ठा वाली शान्ति को प्राप्त होता है।

भावार्थ : आत्म संयम योग द्वारा इस अध्याय में प्रभु शरणागति का मार्ग इस प्रकार बताया गया कि साधक आत्मा को निरन्तर परमेश्वर के स्वरूप में लगावे अर्थात् जीवात्मा सब समय प्रभु का स्मरण करता रहे। ध्यान योग के द्वारा जिसने प्रभु के स्वरूप में मन को नियत कर दिया है ऐसी स्थिति वाला पुरुष परमानन्द पराकाष्ठा वाली शान्ति को प्राप्त होता है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये यम, नियम का पालन करते हुए ध्यान के द्वारा सूरत शब्द योग का अभ्यास करे। इससे चित्तवृत्ति का निरोध होगा एवं इस स्थिति को प्राप्त हुआ साधक प्रभु शरणागति को प्राप्त करेगा।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ ७ ॥

[ज्ञानविज्ञानयोग : श्लोक ॥१७॥]

शब्दार्थ : उनमें भी नित्य मेरे में एकीभाव से स्थित हुआ अनन्य प्रेम भक्ति वाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मेरे को तत्त्व से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूं और वह ज्ञानी मेरे को अत्यन्त प्रिय है ।

भावार्थ : इस अध्याय में ज्ञान और विज्ञान को अच्छी तरह जानकर जो संसार में उपयुक्त व्यवहार करता है वह भगवान को अत्यन्त प्रिय है ऐसा कहा गया है । ज्ञान इस बात का होना चाहिये कि पूर्ण ब्रह्म परमात्मा सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक और सर्वज्ञ हैं। उनके आधार पर संपूर्ण ब्रह्माण्ड स्थित है । यह विश्व सारा जगत उन्हीं का प्रसार हैं, तीनों लोकों के वेही एकमात्र स्वामी हैं, इसका पूर्ण विश्वास होवे एवं इसीके अनुसार व्यवहार करे ऐसा ज्ञान जिसे है तथा विज्ञान—विशेष ज्ञान कि, यह प्रकृति भिन्न भिन्न रूपों में सुन्दर दीखनेवाली, सब प्रकार के भोगों से परिपूर्ण, संसार में जितने भी सुख देने वाले पदार्थ हैं उन सब में परमात्मा स्वयं भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होकर सब भूतों-प्राणियों को सुख देते हैं ऐसे विज्ञान को जिसने समझ लिया है वह प्रभु को तत्त्व से जानता है, उसे मैं अत्यन्त प्रिय लगता हूँ और वह भी मुझे अत्यन्त प्रिय लगता है। इस विज्ञान के द्वारा अपने जीवन को संचालित कर प्रभुशरणागति को प्राप्त कर सकता है ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ८ ॥

[अक्षरब्रह्मयोग : श्लोक ॥७॥]

शब्दार्थ : इसलिये हे अर्जुन, तू सब समय में निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मेरे में अर्पण किये हुए मन-बुद्धि से युक्त हुआ तू निःसन्देह मेरे को ही प्राप्त होगा ।

भावार्थ : इस योग के द्वारा अक्षर ब्रह्म का बोध कराते हुए श्री कृष्ण परमात्मा शरणागति का मार्ग-दर्शन करा रहे हैं । वे कहते हैं—हे अर्जुन, तू सब काल में मेरा स्मरण कर। मैं कौन ? जिसका कभी क्षय नहीं होता, जिसका कभी अभाव नहीं होता, जो सत् है ऐसे शक्तिसम्पन्न परमेश्वर का सब समय स्मरण कर और अपने कर्तव्य कर्म का भी पालन कर । अपने मन और बुद्धि को मेरे में अर्पण कर दे अर्थात् मन और बुद्धि में सब समय प्रभु की सत्ता बनी रहे ऐसा करने से तुझ में अपने कर्तृत्व का अभिमान नहीं होगा और निरभिमानी मनुष्य मुझे जरूर प्राप्त करेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है । इस प्रकार समझ कर साधन करने से साधक प्रभु शरणागति प्राप्त कर सकता है ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ९ ॥

[राजविद्याराज्यगुह्ययोग : श्लोक ॥३४॥]

शब्दार्थ : केवल मुझ परमात्मा में ही अनन्य प्रेम से नित्य

निरन्तर अचल मनवाला हो, मुझ परमेश्वर को ही श्रद्धा प्रेम सहित निरन्तर भजने वाला मेरा ही मन वाणी द्वारा सर्वस्व अर्पण करके श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से पूजन करने वाला हो, सब के आश्रय रूप वासुदेव को विनय भाव पूर्वक भक्ति सहित प्रणाम कर, मेरे शरण हुआ तू आत्मा को एकीभाव करके मेरे को ही प्राप्त होवेगा।

भावार्थ : इस योग के द्वारा प्रभु शरणागति का सरल एवं गोपनीय मार्ग का दर्शन कराते हुए श्री कृष्ण परमात्मा कहते हैं कि तू मेरे में मन लगाने वाला हो, मेरा भजन करने वाला हो, मेरी पूजा करने वाला हो, और मेरे शरण हुआ तू मेरे में एकीभाव करके मुझ सर्वशक्तिमान विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गंभीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदयता आदि गुणों से संम्पन्न सब के आश्रय रूप वासुदेव को विनम्रता पूर्वक नमस्कार कर। इस प्रकार मेरे आश्रित होकर संसार में वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कर्तव्य पालन करने वाला मेरी शरणागति को प्राप्त करता है। मैं भगवान का हूं, भगवान मेरे हैं, सारा विश्व प्रभु का है, सब में प्रभु विद्यमान है; इस भाव को श्रद्धा विश्वास सहित दृढ़ता पूर्वक अन्तःकरण में धारण करके प्रभु कृपा से प्राप्त इस शरीर द्वारा कर्तव्य कर्म का पालन करने से प्रभु प्रसन्न होकर अन्तःकरण में आनन्दानुभूति करवा देते हैं।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १० ॥

[विभूतियोग : श्लोक ॥३॥]

शब्दार्थ : जो मेरे को अजन्मा, अनादि तथा लोकों का महान् ईश्वर तत्त्व से जानता है वह मनुष्यों में ज्ञानवान पुरुष सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है ।

भावार्थ : साधक इस श्लोक के भावार्थ को समझने की चेष्टा करे। इसमें कहा गया है कि प्रभु को तत्त्व से जानने वाला व्यक्ति सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है अर्थात् भगवत् शरणागति प्राप्त कर लेता है। प्रभु को तत्त्वसे जानना किसको कहते हैं इसी रहस्य को समझना है। परमात्मा का जन्म नहीं होता वह, अनादि और सब लोकों का महान् ईश्वर है, इसका अर्थ हुआ ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। जो सर्वव्यापक है वह प्रत्येक जीव प्राणी में जरूर मौजूद है इसलिये हम ईश्वर के ही अंश हैं और ईश्वर आनन्द स्वरूप है इसलिये हमें भी सदा सर्वदा आनन्द में ही रहना चाहिये अपने अन्तःकरण में अविद्या–माया के कारण अथवा निजी ममत्व के कारण जो मलिनता आ गई है उसके कारण हम आनन्द के अभाव का अनुभव करते हैं। तत्त्व से जानने का तात्पर्य यह है कि सारी मलीनता को दूर कर अन्तःकरण को आनन्द में स्थिर कर देना। जब हम ऐसा प्रयत्न करते हैं तो सर्वज्ञ परमात्मा इस मनोरथ को जान लेते हैं

एवं सर्वशक्तिमान होने के कारण इस कार्य में हमारी मदद करते हैं, यदि हम इस भावना से उनकी दया मांगते हैं तो इसे तत्त्व से जानना कहते हैं, और ऐसा करने पर सब पापों से स्वतः मुक्त हो कर प्रभु शरणागति प्राप्त कर लेते हैं।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ११ ॥

[विश्वरूपदर्शनयोग : श्लोक॥५५॥]

शब्दार्थ : हे अर्जुन, जो पुरुष केवल मेरे लिये कर्म करने वाला है और मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्ति रहित है और सम्पूर्ण भूत-प्राणियों में वैर-भाव रहित है वह मेरे को ही प्राप्त होता है।

भावार्थ : इस योग में प्रभु शरणागति प्राप्त करने के लिये श्री कृष्ण परमात्मा कहते हैं कि संसार में जो कुछ करना है मेरे लिये कर, अर्थात् निजी स्वार्थ अथवा ममत्व का त्याग कर मेरे को ही परम आश्रय समझकर संसार में मन, चित्त, बुद्धि से भलिभाँति कर्तव्य कर्म का पालन कर अथवा मेरा भक्त बन जा अर्थात् संसार में जो कुछ भी होता है वह मेरे लिये प्रभु की कृपा से अच्छा ही होता है यह भाव स्थाई रूप से सब समय रहना चाहिये। अथवा संसार के किसी भी भोग्य पदार्थ में किसी भी प्रकार की लिपायमानता न रहे अथवा सम्पूर्ण भूत-प्राणियों में बैर-भाव रहित अर्थात्

सब में ही मुझे देख कर प्रेम भाव रखे। इन पांच उपायों में से जो भी अपने स्वभाव के अनुकूल पड़े उसे पालन करने से वह मेरी शरणगति प्राप्त कर सकता है। इस विश्वरूप दर्शन योग में पांच मार्गों का वर्णन भगवान ने किया है जिनमें से किसी एक को हमें अपनाने की कोशिश करनी चाहिये जिससे इसी जन्म में भगवत् शरणागति को प्राप्त कर सकें।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १२ ॥

[भक्तियोग : श्लोक ॥१४॥]

शब्दार्थ : जो, मन इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किये हुए मेरे में दृढ़ निश्चय वाला है वह मेरे में अर्पण किये हुए मन बुद्धिवाला मेरा भक्त मेरे को प्रिय है।

भावार्थ : यह भक्ति योग है एवं इसमें भक्ति भावापन्न व्यक्ति के लिये शरणागति का मार्ग इस प्रकार बताया गया है कि जो साधक हर परस्थिति में और हर विषय में निरन्तर सन्तुष्ट रहता है, किसी भी काल में असन्तुष्ट नहीं होता तथा जो मन इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखता है अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीर को विषय चिन्तन से पृथक् रखता है तथा मेरे में पूर्ण विश्वास रखता है, और संसार में सत्कर्म करता हुआ निर्भय रहता है, तथा मन और बुद्धि को जिसने मेरे अर्पण कर दिया है अर्थात् मन से

एवं बुद्धि से सदा सर्वदा भागवद् गुणों का ही चिन्तन करता है इस प्रकार साधन करने वाला ही निश्चय प्रभु शरणागति को प्राप्त कर लेता है। तथा अन्तःकरण में मेरे प्रप्ति पुर्ण श्रद्धा और विश्वास रखता है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं शमासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १३ ॥

[क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग : श्कोल ॥१८॥]

शब्दार्थ : इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप संक्षेप में कहा गया। इसको तत्त्व से जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।

भावार्थ : इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ योग के द्वारा प्रभु शरणागति प्राप्त करने का मार्ग इस प्रकार बताया गया है कि क्षेत्र अर्थात् प्रत्येक भूत-प्राणी, जीवात्मा यह सब खेत हैं एवं सबमें बीज रूप से क्षेत्रज्ञ स्वयं परमात्मा चेतन तत्त्व रूप से स्थित हैं। इस साक्षी चेतन को भलि-भाँति जान लेना ज्ञान है, एवं ज्ञेय का स्वरूप समझना परम आवश्यक है, वह परमात्मा ज्योतियों को भी ज्योति देने वाला और बोधगम्य है। इसे तत्त्व से जानने का तात्पर्य यह है, कि जो प्रभु सत्ता को अच्छी तरह जान लेता है वह संसार में निर्भय हो जाता है। प्रभु को सर्वव्यापक समझने के कारण वह बुरे

कर्म नहीं करता । एक परमात्मा ही सत्य है ऐसा जानने के कारण वह सिर्फ उन्हीं के चरणों में प्रीप्ति करता है । संसार के पदार्थों का उपयोग तो वह अवश्यकता अनुसार करता है, परन्तु किसी में लिपायमान नहीं होता । ऐसे भाव में स्थिर रहने वाले को तत्त्व से परमात्मा के स्वरूप को जानने वाला कहते हैं । इस तरह प्रभु शरणागति प्राप्त की जा सकती है ।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १४ ॥

[गुणत्रयविभागयोग : श्लोक ॥२६॥]

शब्दार्थ : और जो पुरुष अव्यभिचारिणी भक्ति रूप योग के द्वारा मेरे को निरन्तर भजता है वह इन तीनों गुणों का अच्छी तरह उल्लंघन करके सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव होने के लिये योग्य होता है ।

भावार्थ : इस श्लोक के भावार्थ को अच्छी तरह समझ कर साधक प्रभु शरणागति प्राप्त कर सकता है । अव्यभिचारिणी भक्ति किसे कहते हैं ? जिस समय साधक अपने इष्ट का ध्यान करता है उसके पूर्व वह धारणा करता है । ध्येय प्राप्ति के लिये जो चेष्टा की जाती है उसे धारणा कहते हैं । धारणा काल में अपने इष्ट के सद्गुणों का बारम्बार स्मरण करता है और उस काल में किसी भी सांसारिक बात का स्मरण नहीं करता । ऐसी चेष्टा को शुद्ध धारणा करना कहते हैं

एवं इसकी सफलता को अव्यभिचारिणी भक्ति अथवा शुद्ध भगवत् चिन्तन कहा जाता है। निरन्तर अभ्यास करने पर जब यह स्थिति हो जाती है तब सद् गुणों में स्थित होकर इष्ट में ध्यान ठहर जाता है। इस प्रकार कुछ समय तक जब ध्यान ठहरने लगता है तब धीरे-धीरे गुणातीत की स्थिति ध्यान काल में बनने लगती है और जब इस दिशा में सफलता मिल जाती है तब वह ब्रह्म में लीन होकर अमृत सुधा का पान करता है। और इस श्रेष्ठ भक्ति को अथवा प्रभु शरणागति को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार इस श्लोक का रहस्य युक्त अर्थ समझकर साधक साधना करके प्रभु की कृपा से शीघ्र सफलता प्राप्त कर लेता है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ १५ ॥

[पुरुषोत्तमयोग : श्लोक ॥५॥]

शब्दार्थः नष्ट हो गया है मान और मोह जिनका तथा जीत लिया है आसक्ति रूप दोष जिनने और परमात्मा के स्वरूप में है निरन्तर स्थिति जिनकी तथा अच्छी तरह से नष्ट हो गयी है कामना जिनकी ऐसे वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त हुए ज्ञानीजन उस अविनाशी परम पद को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ : इस पुरुषोत्तम योग के द्वारा प्रभु शरणागति प्राप्त करने के लिये श्री कृष्ण परमात्मा ने अर्जुन के प्रति इस प्रकार कहा कि साधक को मान-सम्मान की इच्छा नहीं होती। कोई दूसरा मान करे तो बड़ी अच्छी बात है क्योंकि सद्गुण सम्पन्न व्यक्ति का मान करने से, सद्गुणों की वृद्धि होती है इसलिये वह इसे अच्छा समझता है, न कि शरीर को बड़ाई हो रही है इसलिये। परन्तु अपनी ओर से मान बड़ाई की आकांक्षा नहीं रखते। और जिसका मोह नष्ट हो गया है अर्थात् जिसने संसार में भोग-सुख देने वाले पदार्थों में ममत्व का त्याग कर दिया है अथवा भोग-सुख की अवधि को ठीक प्रकार समझ लिया है तथा संसार में किसी भी प्रिय पदार्थ में जिसकी लिपायमानता बिलकुल नहीं है अर्थात् आवश्यकता अनुसार पदार्थों का उपयोग करता है परन्तु किसी वस्तु विशेष में कभी भी आसक्त नहीं होता. और परमात्मा के स्वरूप और सद्गुणों में नित्य निरन्तर श्रद्धा विश्वास सहित स्वाध्याय करने में जिनकी प्रवृत्ति बनी रहती है,और प्रारब्ध से प्राप्त सुख को पुरुषार्थ करते हुए आवश्यकता अनुसार ग्रहण कर लेता है; अपनी ओर से कोई अलग कामना नहीं करता. और संसार में सुख-दुःख जो आता है उसे प्रसन्नता पूर्वक भोग लेता हैं अथवा सुख-दुःख के द्वन्द्व को मन में स्थान नहीं देता, ऐसा साधक पुरुष श्रेष्ठ कहा जाता है और प्रभु का प्यारा होता है । जो भगवान को प्रिय है उसे भगवत् शरणागति सरलता से प्राप्त हो जाती है।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ १६ ॥

[देवासुरसंपद्विभागयोग : श्लोक ॥२२॥]

शब्दार्थ : हे अर्जुन, जो इन तीनों नरक के द्वारों से मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याण का आचरण करता है वह परम गति को जाता है अर्थात् मेरे को प्राप्त होता है ।

भावार्थ : इस योग के द्वारा भगवान मोक्ष प्राप्ति का अथवा शरणागति का मार्ग-दर्शन, अर्जुन को करवा रहे हैं। वे कहते हैं—हे अर्जुन, आसुरी सम्पदा अर्थात् काम, क्रोध, लोभ ये तीन ही नरक के द्वार हैं अथवा सांसारिक बंधन में आबद्ध होने का मार्ग है। यह स्वरूप से त्याज्य होना संभव नहीं परन्तु उपयोग परिवर्तन से संभव है । इसलिए साधक को चाहिये कि अभ्यास के द्वारा इन तीनों पर विजय प्राप्त करे। विजय प्राप्त करने से तात्पर्य है कि इनका उपयोग परमार्थ में उन्नति प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने अन्तर्गत आसुरी वृत्ति का दमन करने के लिये करे। वह, इस साधन में सफलता प्राप्त करने का निरन्तर अभ्यास करता रहे। आत्मा का कल्याण करने का यही मार्ग इस योग में भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को बताया है और कहा है कि हे अर्जुन, जो प्राणी विजय प्राप्त कर सांसारिक कर्म को कर्तव्य समझकर कर करता रहेगा उसका अन्तःकरण निर्मल हो जायगा एवं एक दिन वह अवश्य परमगति को प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार भगवान ने इस साधन के द्वारा भगवत् शरणागति प्राप्त करने का मार्ग दिखाया।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १७ ॥

[श्रद्धात्रयविभागयोग : श्लोक ॥१६॥]

शब्दार्थ : मन की प्रसन्नता और शान्तभाव एवं भगवत् चिन्तन करने का स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरण की पवित्रता इन्हें मनसम्बधी तप कहा जाता है।

भावार्थ : इस योग में सात्त्विकी श्रद्धा की प्रधानता है एवं श्रद्धा का वासस्थान मन है और मन शरीर में सर्वत्र अपनी सत्ता रखता है। इसलिये मन का तप करने से अर्थात् इसे शुद्ध करने से सात्विकी श्रद्धा का विकास होता है। एवं हृदय में स्थित, साक्षी चेतन का विम्ब मन पर पड़ता है, और शुद्ध श्रद्धा उसे पकड़ लेती है। इस प्रकार शुद्ध श्रद्धा द्वारा पकड़ा हुआ परमात्मा उस अभ्यासी को अपनी शरणागति प्रदान कर देता है। इसके अभ्यास का क्रम इस प्रकार है कि (१) साधक मन से सदा प्रसन्न रहने की चेष्टा करे, (२) सब समय सौम्य भाव में रहने का प्रयास करे, (३) सांसारिक विषय में मौन रहने का स्वभाव और भगवत् चिन्तन की चेष्टा करे, (४)मन को नियन्त्रण में रखे अर्थात् मन से सुविचार की चेष्टा करे और (५) अपने मनोभाव को सब समय शुद्ध रखने का प्रयत्न करे। इस प्रकार ये मन के तप हैं। ऐसा अभ्यास करने से मन पवित्र हो जाता है जिसे निर्मल मन होना कहते हैं, एवं ऐसे मन के द्वारा प्रभु

शरणागति प्राप्त करने में अभ्यासी साधक सफल होता है। इस योग में श्रद्धा की विशेषता एवं उसके लिये मन के शुद्धिकरण करने की युक्ति बतलाई गई है। साधक इसका अभ्यास कर सफलता को प्राप्त कर सकता है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ १८ ॥

[मोक्षसंन्यासयोग : श्लोक ॥६५॥]

शब्दार्थ : केवल मुझ वासुदेव में अचल मन वाला हो, मुझ परमेश्वर को ही निरन्तर भजने वाला हो, मेरा श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से पूजन करने वाला हो, मुझ सर्वशक्तिमान वासुदेव को विनय भाव पूर्वक नमस्कार कर। ऐसा करने से तू मेरे को ही प्राप्त होगा। यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है।

भावार्थ : यह योग मोक्ष योग है एवं इस श्लोक द्वारा मोक्ष प्राप्ति का उपाय अथवा भव-बन्धन से मुक्त होकर संसृति (जीवन-मरण) रोग से मुक्त होने का सरल साधन श्री कृष्ण परमात्मा ने अर्जुन को बतलाया।

केवल मुझ में अचल मन वाला हो : अर्थात् अपने मन से संसार का आवश्यक व्यवहार को करते हुये परम प्रकाश रूप मुझ में अर्थात् सर्वशक्तिमान चेतन तत्त्व में अपने मन को स्थिर रखो।

निरन्तर भजने वाला हो : सब काल में मेरा अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सत्, चित्, आनन्द स्वरूप परमात्मा का अपने को प्रिय लगे उस नाम से स्मरण करता रहे। महान पुरुष परमात्मा मेरा मालिक है, और मैं उनका सेवक हूं, इस भावना के दृढ़ होने से धैर्य की मजबूती अन्तःकरण में आ जाती है। इससे व्यवहार और परमार्थ दोनों में उन्नति होती है।

श्रद्धा भक्ति सहित पूजन करनेवाला हो : भाव की मेरे द्वारा दिये हुए उपदेशों को निष्ठा सहित सेवन कर। स्थूल पूजा में जिस विग्रह को सुगन्धित द्रव्य अर्पित करते हैं उसी प्रकार सूक्ष्म पूजा में अन्तःकरण को सुगन्धित करने वाले गुणों से उपदेशों का सेवन कर पूजा काल में भगवान को चढ़ाई हुई माला अथवा नैवेद्य जब प्रसाद रूप में मिलता है तो प्रसन्नता होती है। इसी प्रकार अपने सद्‌गुणों द्वारा जब भगवान के उपदेशों को हम ग्रहण कर लेते हैं उस काल में सच्चे आनन्द की अनुभूति होती है।

विनय भाव पूर्वक नमस्कार कर : सर्वशक्तिमान परमात्मा को नमस्कार कर अर्थात् अपने अहंकार का सर्वथा त्याग कर। जो ज्ञान गीता में दिया गया है उसे विनम्रता पूर्वक शिरोधार्य कर। इस प्रकार इस सद्ज्ञान को स्वीकार कर अपने कर्तव्य कर्म का पालन कर तेरा कोई कर्म बंधन नहीं होगा, भव बंधन से भी मुक्त हो जायेगा। ऐसा भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को बताया कि जिस प्रकार स्थूल विग्रह में नमस्कार कर हम उनकी श्रेष्ठता को स्वीकार

करते हैं उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर में उनको नमस्कार करने का तात्पर्य उनके द्वारा दिये हुये उपदेशों को अहंकार त्याग कर स्वीकार करना है, एवं उन्हीं के अनुसार आचरण कर मोक्ष को निर्द्वन्द्व पा लेना है।

इस प्रकार इस श्लोक में भगवान श्री कृष्ण परमात्मा ने गोपनीय रहस्य अर्जुन के प्रति वर्णन किया एवं उसे विश्वास दिलाने के लिये सत्य प्रतिज्ञा करके कहते हैं कि इस प्रकार वर्तनेवाला व्यक्ति निश्चय मुझे प्राप्त कर सकता है। इस भावार्थ में जो सूक्ष्म रहस्य बतलाया गया है उसे अच्छी तरह समझकर कोई भी भूत-प्राणी संसार-बंधन से मुक्त हो सकता है।

॥ इति अष्टादश श्लोकी गीता ॥

—:०:—

(१) स्थूल से क्रमशः परसूक्ष्म में जीव का प्रवेश होता है।

(२) आधार से निराधार का विचार किया जाता है।

(३) परसूक्ष्म में आनन्द प्राप्त करने के लिये विवेक आवश्यक है।

(४) स्थूल-सूक्ष्म में रस, मन द्वारा एवं इसमें वासना की प्रधानता रहती है।

(५) अति सूक्ष्म का बोध बुद्धि मंडल में, एवं इसमें विवेक की प्रधानता रहती है।

(६) परसूक्ष्म की अनुभूति आत्मा में और इसमें मौन की प्रधानता रहती है।

* धन्यवाद *

निम्नलिखित सज्जनों ने प्रकाशन के पूर्व पुस्तकें संरक्षित करा कर प्रकाशन-कार्य में सुन्दर सहयोग दिया है। इसलिय "राम सभा प्रकाशन" इन उदार सहयोगियों के प्रति आभार प्रकट करता है।

२००)	श्री शिवभगवान सोढ़ानी	नं०-२७, डी, स्ट्रेन्ड रोड
२००)	श्री प्रहलाद राय जी भडेच	,, २६, डा० राजेन्द्र रोड
१००)	श्री बालावक्स जी वियानी	सीकर, राजस्थान
१००)	श्री नथमल जी मीमाणी	,, ७, विवेकानन्द रोड,
१००)	श्री सुखदेवजी बाहेती	,, ३६, आरमेनियम स्ट्रीट
१००)	श्री राधाकृष्णजी मोर	,, ५, क्लाइव रो, कलकत्ता
१००)	श्री ज्ञानीराम एण्ड् सन्स	,, १, नारायण बाबू लेन
१००)	श्री चांदरतनजी मीमाणी	,, २८, पार्वती घोष स्ट्रीट
१००)	श्री रमणलालजी फूभरा	,, ५६, बड़तल्ला स्ट्रीट
१००)	श्री राधेश्यामजी अग्रवाल	,, १११, बलराम दे स्ट्रीट
१००)	श्री दुर्गादासजी मूँधड़ा	,, १६, वृटिश इण्डियन स्ट्रीट
१००)	श्री रामकुमारजी भुवालका	,, पी ३२।३३, इण्यिा एक्सचेंज,
१००)	श्रीमती यमुना देवी करनानी	,, ४, सिनागोंग स्ट्रीट
१००)	श्री मती यमुना देवी बागड़ी	,, ३६, कालीकृष्ण टैगोर स्ट्रीट
१००)	श्री महादेवलालजी खेतान	,, पी ७, कलाकार स्ट्रीट
१००)	श्री जगदीश प्रसादजी सराफ	,, पी १६, कलाकार स्ट्रीट
५०)	श्री सत्यनारायणजी पोद्दार	,, ३५, विवेकानन्द रोड
५०)	श्री महाबीर प्रसादजी खेतान	,, ७, यदुलाल मल्लिक रोड
५०)	श्री ब्रजरतनजो करनानी	,, ४७, खेंगरा पट्टी, कलकत्ता
५०)	श्री प्रहलाद रायजी अग्रवाल	,, ओमभवन, स्ट्रैण्ड रोड
५०)	श्री कुंजबिहारीजी तापड़िया	,, शिवपुर, हवड़ा

५०) सन्त माधवाचार्य बांसफाटक, बनारस

३०) श्री जगदीश मानसिंहका न०-४० बड़तला स्ट्रीट कलकत्ता

३०) सन्त नारायण स्वामी ,, धर्मघाटी, विकानेर

२५) श्री रामदरबार सत्संग ,, प्रसन्न कुमार घाट

२५) श्री वद्रीदासजी डागा ,, १६, शिवठाकुर गली

२५) श्री बद्रीनारायणजी खेमका ,, ३२, वाराणसी घोष स्ट्रीट

२५) श्री रघुवीर सिंहजी अग्रवाल ,, ४, इण्डिया एक्सजेंस प्लेस

२५) श्री रामचन्द्रजी मोहता ,, ८६, महर्षि देवेन्द्र रोड

२५) श्री हरिरामजी सिंहानिया ,, ४०, स्ट्रैण्ड रोड कलकत्ता

२५) श्री रामरतनजी दम्मानी ,, हिन्द मोटर, उत्तरपाड़ा

२५) श्री शिवदयालजी राठी ,, कोलमाइन, झरिया

२५) श्री बुलाकीदासजी मोहता ,, १०/१/१C कलाकार स्ट्रीट

२५) श्री गोविन्दलाल गोयनका ,, ५ ए, बैसाख स्ट्रीट, कलकत्ता

२५) श्री ब्रजरतनजी मोहता ,, विलासराय कटरा, कलकत्ता

२५) श्री रामकृष्णजी बाहेती ,, १७, पगैया पटी ,,

२५) श्रीमती रामप्यारी राठी ,, ६, जोड़ाबगान ,,

२५) श्रमती चम्पाबाई खेमका ,, २ बी, माला पाड़ा, ,,

२५) श्री जगदीश कन्दोई ,, १८, माला पाडा ,,

२५) श्री फुलचन्दजी इन्दोरिया ,, ११, गोयनका स्ट्रीट ,,

२५) श्री गीताज्ञान मंडल ,, पालीवाल पार्क, आगरा

२५) श्री सुखीरामजी गुप्ता ,, किनारी बाजार, आगरा

२५) श्री सत्यनारायणजी तोदी ,, हरीघोष स्ट्रीट, कलकत्ता

२५) श्री देवी सहाय मित्तल ,, ८C, ब्राण्डफील्ड रो, मोमिनपुर

२५) श्रीमती गोदावरी बजाज ,, १७, सीकदरपाड़ा, बड़ाबाजार

२५) श्रीमती दुरगा भानीरामका ,, ३२, नीमतल्ला घाट स्ट्रीट

२५) श्रीमती कमला देवी शर्मा ,, ११, गंगुली लेन, बड़ाबाजार

२५) श्री मांगीलालजी शर्मा ,, ८८ ए, मदनमोहनतल्ला स्ट्रीट

२५) श्री द्वारका प्रसादजी सोनी ,, ४, जगमोहन मल्लिक लेन

श्रीमद्

卐 गीता सिद्धान्त 卐

कर्मयोग : 'समत्वयोग' साध्य, वृत्ति में सेवा-भाव की स्थिति, और साधन निष्काम कर्म।

भक्तियोग : "भक्ति" (प्रभुशरणागति) साध्य, वृत्ति में श्रद्धा की स्थिति, और साधन समर्पण।

ज्ञानयोग : "ज्ञान" साध्य, वृत्ति में विवेक की स्थिति, और साधन वैराग्य।

अपने स्वभाव के अनुसार योग अपना कर युक्ति पूर्वक साधन करने से साधक परमानन्द प्राप्त करने में सफल हो जाता है।

रामकृष्ण मोहता

मुद्रक—युनाइटेड कमर्शियल प्रेस लि०, कलकत्ता-६